1

# इस बार

◾ पूर्वकथन 5

◾ आधूनिकता ओर आधुनिकताऍ रवि सिन्हा 7

◾ **विमर्श: आधुनिकता** 25

प्रबोधन क्या है ? कांट 29

प्रबोधन क्या है ? मिशेल फूको 34

वर्तमान का अन्तर्वेध हेबरमास 48

परिवक्ता क्या है ? द्रेफ्यू और रैबिनो 53

◾ ल कोरबूजिए के शहर में रिक्शे प्रभात 64

◾ 'को करि तरक' से तर्क के अंत की घोषणा तक उमाशंकर 76

◾ भावुकता बनाम वैज्ञनिकता: हिन्दी समीक्षा का प्रस्थानबिंदु मुद्राराक्षस 86

◾ स्त्रियों की भाषा: कुएं में टहलती प्रतिघ्वनियां अमानिका 103

◾ कहानी

ऐसा ही था वह ! ममता कालिया 108

◾ साहित्यालोचन

नरेश सक्सेना की कविताएं 115

दूसरों के खिलने के लिए जगह बनाती कविताएं हरीचंद्र पाण्डे 118

क्षण की स्मृति बनाम युगसत्य अंशु मालवीय 123

◾ रचना प्रकिया पर एक असमाप्त आलेख नरेश सक्सेना 128

◾ आधुनिकता-पूर्व भारत में मन्दिरों का अपवित्रीकरण रिचर्ड ईटन 141

◾ क्वाण्टम के सौ साल (भाग तीन) रवि सिन्हा 150

◾ सिनेमा

गदर का सच ललिता जोशी 164

◾ सामयिक विविधा 175

युद्ध के निहितार्थ ए.अमन

शिक्षा प्रपंच ला.बा.वर्मा

2

# पत्र-प्रतिक्रियाएं

* ये खत इसलिए लिख रहा हूं कि आप मुतमइन हो जायें - इतना महत्वपूर्ण और कीमती अंक सही जगह पर पहुंच पाया।.. नईम, देवास, मध्यप्रदेश
* सन्धान-कृति, संस्कृति और सिद्धान्त का मंच अच्छा लगा। ज्वालमुखी, हैदाराबाद
* यह सचमुच एक वैसी ही पत्रिका है जिसकी इधर बेहद जरूरत थी। यह वामपंथ के विरूधियों के खुश होने का दौर है और भरसक अपने-अपने ढंग से वे हो भी रहे हैं। हमारे अपने अनेक साथी इसमें इनकी भरपुर मदद भी कर रहे हैं। जो भी हो, "सन्धान" वामपंथी विचार की एक सम्भावनापूर्ण पत्रिका है जिसके सरोकार पर्याप्त व्यापक हैं।... इसके लिए कुछ करके मुझे खुशी होगी।
* सन्धान का प्रकाशन एक ऐसे समय हुआ है जब मेरे तमाम लेखक विभ्रम के वर्तमान वातावरण में ओर कुसूचित लोगों द्वारा किये जा रहे तरह-तरह के हमलों के अंधकार में एक प्रकाशस्तम्भ की तलाश में थे। इसमें कोई दो राय नहीं कि हमारी समकालीन दुनिया में खडे ज्वलंत से रू-ब-रू होने तथा उनके जवाब तलाशने की दिशा में साहसपूर्ण कदम बढ़ाने की भूमिका में सन्धान एक अनिवार्य पत्रिका के रूप में विकसित हो जा रही है। मिसाल के तौर पर नामदेव लाघवे तथा मुद्राराक्षस के लेख ऐसे प्रश्नों के बारे में प्रभावी ढंग से एक वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते है जिन प्रश्नों को सवर्णो तथा अन्य सनातनियों द्वारा "तय" माना जा चुका है रवि सिन्हा का लिख ‘क्वांटम् के सौ साल' तो अद्भुत है। गहरे अनुसंधान तथा सटीक तर्को पर टिकी उनकी अन्तर्दृष्टि तथा विश्लेषणात्मक वस्तुनिष्ठता ने उस लेख को मेरे जैसें विज्ञान के अनियमित पाठक के लिए भी बोधगम्य बना दिया। ... उसी तरह ‘कम्युनिटी घोषणापत्र के सौ साल' में रखी गयीं प्रभात पटनायक की बातें काबिले गौर हैं। आज के हालात में प्रतिरोध् जारी रखने तथा परिस्थितियों को अपने हिसाब से ढालने के अहम कार्यभार के सन्दर्भ में वाम आन्दोलन की समीक्षा और मौजूदा उत्तर साम्राज्यवादी परिदृश्य में कम्युनिस्ट पार्टियों की भूमिका के बारे में अरविन्द के लेख पर गौर करना जरूरी होगा। उदय प्रकाश, दिल्ली (e-mail से)
* ‘सन्धान' के दो अंक मिले। इसमें कोई दो राच नहीं हो सकती कि पठन सामग्री काफी गंभीर और एक बार में पढ़ कर हजम कर जाने वाली नहीं है। इधर हिन्दी में जो रिसाले देखने पढ़ने को मिलते हैं उनके मुकाबले संधान की खास अहमियत यह लगती है कि इसमें साहित्येतर सवालों पर एक संजीदा बहस चलाने की काफी ज़ोर है। ज्यादातर हिन्दी रिसाले या तो मूलत: साहित्यक मिज़ाज के हैं या फिर राजनैजिक खेमेबंदी में इस तरह फंसी हुई जान पड़ते है कि उनमें विषय गंभीर भी बहसें न के बराबर होती है और पार्टी लाइनों के तंजनगर तकाजे उन हावी रहते हैं। 'सन्धान' पहचान और संस्कृत के सवालों को आज की जरूरतों के हिसाब से जिस गंभीरता से लेता दिखाई दे रहा है उससे उम्मीद बंधती है कि नई बहस हिंदुस्तान के वामंपथों हलकों में शुरू हो पाएगी। रवि सिन्हा के ‘हिन्दी मघ्यप्रदेश' के संदर्भ में लेख, सुभाष गाताडे और उमाशंकर का दलित प्रश्न और अंशु मालवीय का पाठक व समीक्षक के मुकाम पर- ऐसे लेख हैं जिन पर बहस जारी रहनी चाहिए। इन के अलावा नारीवाद पर लंबी बहस हिन्दी पाठकों के सामनें पेश करने के लिए संधान के संपादमंडल का शुक्रिया अदा किया जाना चाहिए।

एक गुजारिश है जिस पर तवज्जो दें तो बेहतर होगा। मैं रवि सिन्हा की इस बात से सहमत हूं कि भाषाई आधार पर इलाकों की पहचान करना वामंपथी राजनीति के नज़रिए से हर सूरत में बेहतर है मगर 'हिन्दी प्रदेश' जैसे शब्द शायद इस इलाके की भाषाई पेचीदगी को पकड़ने में नाकाम तो रहते हैं ही साथ ही अपने भीतर एक जबरदस्त साम्प्रदायिकता विरासत को भी समेटे चलते हैं। खुद रवि बाबू के लेख में इसके प्रति सतर्कता दिखाई देती है मगर फिर भी वे इस फ़िक्रे का इस्तेमाल बदस्तूर करते हैं । हमारी भाषा भी अगर जाने अंजाने संस्कृतनिष्ठ हो जाती है तो हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि फिर हम हिन्दुओं से मुखातिब हो पाएंगे। पचास साला के राष्ट्र निर्माण ने पहले मुसलमानों से लिपि छीनी, फिर शब्द भंडार। एक मायने में पूरे मुसलमान समाज को अपने विचार जगत से बाहर कर दिया। संघी समरसता के प्रोजेक्ट को कांग्रेस और प्रगतिशीलों ने मिल कर काफी हद तक पहले ही पूरा कर दिया है। हम सब उस गुनाह में शरीक हैं जिसके चलते आज भगवा तूफानी दस्ते अपना जघन्य खेल खेल पा रहे हैं। "हिन्दी प्रदेश" ‘हिन्दी जाति' के बीच फासला बहुत ज्यादा नहीं है और इस जतीय पहचान को

3

गढ़ने का श्रेय भी तो हमारे को ही जाता है। अकील रिज़वी का लेख छाप कर आपने एक अच्छी शुरूआत की है मगर फिरकों के बीच खाई पटने में अभी हमें और बहुत दूर जाना होगा। - आदित्य निगम, दिल्ली

* यह वक्त का तकाजा है या खिसक रहे आधार के प्रति चिंता, कि अब लगभग प्रत्येक साहित्यिक-वैचारिक-संस्कृतिक-विमर्श और दलित-विमर्श फरमाईशी कॉलम का स्थायी रूप ले चुके हैं। इसे स्त्री- विमर्श और दलित-विमर्श की प्रासंगिकता का ऐतिहासिक प्रमाण माना जाय या पत्रिकाओं को बेचने का हंथकंडा ? जो भी हो नारी- विमर्श के प्रति आपकी संपादकीय चिंता के प्रति हमारी चिंता कहने को तो स्वाभाविक ही है। मार्क्सवादी बनाम नारीवाद का अन्तर्द्वद बनाम वर्ग और पितृसता का अन्तर्सम्बन्ध या फिर वर्ग और पितृसत्ता का संश्लेषण बनाम वर्ग और पितृसत्ता का द्वैत - को लेकर आपने तीन ऐतिहासिक लेखों (संधान-1 में हाइडी हार्टमान, आइरिस यंग और लीजा बोगेल का लेख) का अनुवाद छापकर हमें (भारतीय नारी समाज) उपकृत किया है। हम आपके( संपादक द्वय) अभारी है। जिस पितृसत्ता की शीतल छांह में रहते-पलते-बढ़ते हुए; हम महिलाओं को मुंह खोलने की आजादी न हो, जहां अभिव्यक्ति की स्वंतत्रता पर ही लाख पहले हों, वहां नारीवादी- आंदोलन से जुड़े नारी- अस्मिता के अन्याय वैधनिक-संवैधानिक, मौलिक-मानवीय अधिकारों की बात करना दूर की कौड़ी लाने समान है।... आपके इस तर्क में कुछ दम है कि बहुत सी रचनायें धीरे-धीरे पढ़ी जाती हैं। "द सेकण्ड सेक्स" पचास के पहले छपी थी, अस्सी के आस-पास उसका अनुवाद ‘स्त्री: उपेक्षित' आया। आपसे क्या छिपाना, कि अब हमारी स्कूल- कालेजों की छात्रायें भी इसे ‘जेम्स हेडली चेइस' की तरह आपस में पढ़- पढ़ा रही हैं। ठीक उस तरह से जैसे आजकल हम बच-बचाकर, छिप-छिपाकर ‘विद्रोह-स्त्री' पढ़ रही हैं। आखिर हम महिलायें अनुवाद पर ही तो ‘डिपेन्ड' हैं। प्रश्न है- पितृसत्ता कब तक हम महिलाओं को अनपढ़ रखने की साजिश को बरकरार रख सकती है? प्रभा खेतान और मधु वी.जोशी आगे न बढ़ी तो अब तक आप लोग ( पुरूष समाज) हमें वर्ग और संघर्ष के पाठ में ही उलझायें अटकाये रखते और पितृसत्ता के तितलीबाज-चिड़ीमार हमारे लिए अदृश्य-लोक के भूत- प्रेत ही होते। ... हम यह कहां कह रही है कि हमें पितृसत्ता-घर-परिवार-की छांह में नहीं रहना है। हम तो यही कह रही हैं कि पितृसत्ता के षडयन्त्रों का पर्दाफाश करना है। पितृसता हमारी दुश्मन इस मायने में है कि एक ओर वह इक्कीसवीं सदी में भी अठारहवीं सदी के सामन्ती मूल्यों-मान्यताओं को पुनर्जीवित किए हुए हैं तो दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवाद, बहुराष्ट्रीय कंपनियों, दृश्य और प्रिंट मीडिया आदि-आदि सांठ-गांठ कर हम स्त्रियों को उपभोक्तावादी संस्कृति की गुलाम-व्यक्ति से वस्तु बनाने पर आमादा है। किन्तु पुरूषों को हम दोस्त- मित्र ही मानती समझती हैं। इक्कीसवीं सदी में भी अपमान का घूंट पीने को विवश हम भारतीय महिलाओं को कल्पना की ऐसी उड़ान की आजादी कहां कि मार्क्सवादी और नारीवाद के प्रेम विवाह या अप्रिय विवाह और प्रायेजित तलाक या कुछ और सोच पायें?सीधे-सीधे शब्दों में अब तक हम यही जान पाई हैं कि ‘मार्क्सवादी' नारी-प्रश्न का विवेचन द्वन्द्वात्मक विश्लेषण पद्वति तथा ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से करने का प्रस्ताव रखता है, जिसकी वैज्ञनिकता प्रासंगिकता आज भी असंदिग्ध है। नारी शोषण के ऐतिहासिक,सामजिक एवं आर्थिक आधारों को गंभीरतापूर्वक व्याख्यायित एवं विश्लेषित करने वाले मार्क्स एवं एंगेल्स, सर्वहारा- वर्ग की मुक्ति में ही नारी- मुक्ति का समाधान प्रस्तावित करते हैं क्योंकि मुक्ति अकेले में नही मिलती। भूमंडलीकृत-प्रौढ़ पूंजीवादी दौर में भी हम इस तथ्य ओर सत्य को नजरअंदाज नहीं कर सकते। किन्तु हम इस सच्चाई से भी मुंह नहीं मोड़ सकते कि वर्ग-विभक्त समाज में नारी का शोषण और दमन वर्गीय आधार के अलावा यौनता (सेक्स) के आधार पर भी होता है, जिसके लिए कहीं न कहीं से पितृसत्ता ही जिम्मेदार है। यद्यपि यह प्रश्न ‘मार्क्सवादी' से पूर्व ही उठाया जा चुका था किन्तु इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार समाजवादी नारीवाद द्वारा सम्भव हुआ जो वस्तुत: मार्क्सवादी और नारीवाद का संश्लेषित रूप इसी मायने में है कि महिला उत्पीड़न की समस्या को मार्क्सवादी सिद्धान्त की परिधि ( वर्गीय फ्रेमवर्क ) के भीतर रहकर सुलझाया जाय क्योंकि अब तक की वही सबसे वैज्ञनिक प्रविधि है जैसा कि लीज़ा वोगेल कहती है, मानती है किन्तु सामजिक संरचना के विश्लेषण में महिलाओं की स्थिति और उत्पीड़न के प्रश्नों पर समग्रता में विचार करना भी अपेक्षित होगा ताकि जेंहर श्रम विभाजन और पूंजीवादी पितृसत्ता के अंतर्सम्बन्धों को भी जांचते- परखते हुए महिलाओं के विशेष उत्पीड़न को समझा-परखा जा सके और पुरूष वर्चस्व की मानसिकता से बचाव की दिशा में प्रयास किया जा सके जैसा कि आयरिस यंग का मानना है। -डॉ कंचन यादव, फाफामऊ , इलाहाबाद
* सन्धान का दूसरा अंक भी पढ़ा । अच्छा लगा। इस पत्रिका के माध्यम से कृति और सिद्धान्त का मंच तो

4

आप अवश्य प्रदान कर रहे हैं। लेकिन संस्कृति की ओर अभी कुछ स्पष्टता नहीं है। किस ओर समाज को बढ़ाना है। क्योंकि जहां कुछ नए ढंग से जाति और वर्णवाद को ‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' का नाम देकर गुमराह किया जा रहा है सारे भारतीय समाज को उससे स्वतन्त्र और मजबूत राष्ट्रवादी और लोकतांत्रिका विचारकों को आज अधिक जागरूकता और स्पष्टता दिखानी होगी। नहीं तो आजादी की जीती हुई बाजी हम हार सकते हैं। क्योंकि साम्प्रदायिकता और सामजिक जातिवाद दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। इसके समाधान की ओर भी नज़र होना बहुत जरूरी है। जो आज समाज की सच्चाई है। -कर्मशील भारती, दिल्ली

* सन्धान का दूसरा अंक प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता हुई। उसका पिछला अंक भी मिल गया था आप लोगों का प्रयास बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसके लिए मेरा जो साथ चाहिए मैं दूंगा । आधार सदस्यता शुल्क शीघ्र भेजना चाहता हूं, किस्तों में भी। -हरीशचन्द्र सत्यार्थी, मुजफ्फरपुर
* सन्धान-2 का अंक प्राप्त हुआ । दलित विमर्श से संबधित दोनों लेख (मुद्राराक्षस तथा नामदेव लाघवे ) न केवल नई जानकारी देते हैं वरन् विश्लेषण की एक अन्तर्दृष्टि भी। मैत्रेयी पुष्पा का लेख स्त्री की शक्ति और सम्भावना को रेखांकित करता है। आज का दौर और वाम विमर्श के अन्तर्गत प्रकशित तीनों लेख पठनीय और संग्रहणीय है। क्वांटम पर दोनों अंको प्रकाशित लेख कैसे हैं इस पर में प्रतिक्रिया करने में समर्थ नहीं हूं परन्तु लगता है कि इस प्रकार के लेखों को पंसद करने वाला आपकी पत्रिका का पाठक समुदाय अवश्य है तभी तो आप विस्तार से इसे छाप रहे हैं। पत्रिका अच्छी निकल रही है। विस्तार से प्रतिक्रिया फिर अभी।

- महेन्द्र प्रसाद, वाराणसी

* सन्धान एक मित्र से लेकर पढ़ी। पत्रिका बहुत अच्छी है।... जरा कीमत कम करिये हम जैसे फक्कड़ भी जिसे पढ़ सकें। और जरा प्रुफरीडिंग पर पर्याप्त ध्यान दीजिए। -ए.पी.भारती, किच्छा. उत्तरांचल
* सन्धान पढ़ने को मिला। क्वांटम के सौ साल पहले महत्वपूर्ण लेख था। भौतिकी के इतिहास को लेकर इस तरह का लेख न सिर्फ भौतिकी के लिए बल्कि प्रकृति विज्ञान को लेकर भी आना चाहिए । (जैसे जीवाविज्ञान, जेनेटिक्स, कम्प्युटर एंव सूचना प्रौद्योगिकी का लेकर भी) इसके साथ महत्वपूर्ण बात इसकी दार्शनिक अर्थव्यवस्था को लेकर है कैसे लागू किया जाए। न सिर्फ के छात्र (खासकर भौतिकी के) बल्कि शिक्षक/वैज्ञनिक भी भाववाद के गहरे दलदल में फंसे हैं और छाती पीटते रहते हैं । - नरेश कुमार, वाराणसी
* सम्पादकीय के अन्तर्गत सन्धान क्यों? (तनावपूर्ण लगा ) इस अंक में हिन्दी मध्यप्रदेश और भारतीयता, हम बनाम वे, अकादमिक कारखाने में, हिन्दुत्व के रणबांकुरे आदि काफी प्रशंसनीय लगे। कहानी ‘प्रेरणास्त्रोत' की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। पूरा अंक सार्थक रचनाओं से परिपूर्ण लगा। कहीं पर कोई कमी दिखाई नहीं पड़ी। ‘क्वाटंम के सौ साल' के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं। ... सर्जनात्मक समृद्धि हेतु कुछ लेख संक्षेप में भी छापें तो अच्छा रहेगा। यह आपकी युगीन साधना है। अच्छे सहित्य की ओर हम पाठकों को ले जाने का काम ‘सन्धान' पात्रिका करेगी। ऐसी आशा है। ... -धरविन्दर सिंह, बिजनौर
* क्वांटम मेकॅनिक्स पर केन्द्रित सन्धान तथा दो में छपे लेख एक अच्छा प्रयास हैं। इन लेखों के जरिये लेखक ने भौतिकी के अब तक के इस सबसे सफल सिद्धान्त का एक विहंगम चित्र प्रस्तुत किया। ..लेकिन इन लेखों में चन्द कमियां भी नजर आयीं। मसलन, अच्छा होता कि तकनीकी विषयों से अपरिचित साधारण पाठक को मद्देनज़र रखते हुए भाषा को और आसान बनाया जाता ताकि वह क्वांटम मेकॉनिक्स के विषय को ठीक से समझ पाता और उसे रहस्यवाद से जोड़ने से बच पाता। इसके अलावा, लेख में रेखांकनों का अभाव काफी खटका। बेहतर होता प्रकृति का सौदंर्य और उसके रहस्यों को जानने के लिए पाठक की पर्याप्त मदद की जाती। बहरहाल, समग्रता में देखें तो लेख मुझे काफी अच्छे लगे। - लुईत परन, सेण्ट स्टीफन्स कॉलेज, दिल्ली
* बहुस सराहनीय प्रयास।.. सुझाव यह है कि विज्ञान पर ज्यादा छापे..सभी लेख अलग-अलग समीक्षा के लिये मेरे लिए हैं। -चित्रा सोजन एवम् शैलेन्द्र प्रताप सिंह, सिद्धार्थगन

5

# 

# पूर्वकथन

सबकुछ उम्मीद से ज्यादा ही हो रहा है। हिन्दी पाठकों से सब को शिकायत रहती है - खास तौर पर प्रकाशकों को । हमें कभी नहीं रही - इस बार भी नहीं। हमें डर था कि ‘ऐसी' पत्रिका पाठक स्वीकारेंगे भी या नहीं। इधर हाल यह है कि हमें तो पहले दो अंक फिर से छपवाने पड़ सकते हैं। पाठकों और लेखकों के बीच स्वीकार बढ़ा है, तो नकार भी कम नहीं हुआ है। दोनों आश्वास्त करते हैं कि उपस्थिति और हस्तक्षेप दर्ज हो रहे हैं। बहरहाल सन्धान की भूमिका के मूल्याकंन की एक कसौटी तो यह हो सकती है कि स्वीकार और नकार दोनों बढें-वह सहयात्रियों के सोद्देश्यों-सार्थक सृजन मंच बनता जाय और सामजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के अभियान में उपयोगी उपकरण के रूप में स्वीकृत होता जाय और साथ ही वह जिस व्यवस्था के विरूद्ध खड़ा हो रहा है उसके प्रशंसकों - समर्थकों की आंख की किरकिरी बनता जाय।

हमारा आग्रह रहा है कि हमें केवल ऐसे पत्र न लिखें जायें जो बिना ठीक से बताए कि वह ऐसा क्यों कर रहे हैं हमारी पीठ थपथपाएं या ज़लील करें। हम असहमति से संवाद को तत्पर हैं बशर्ते कि असहमति सरोकर से उपजी है, तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत की गई है और पाठकों के प्रबोधन में मदद करती है। कोई ऐसी बहस जिसमें पत्रिका के अधिकांश पाठकों की रूचि ही न बने हम सन्धान में नहीं चला सकते, पर सृजनात्मक और तर्कसंगत बहस को इस पूरे उपक्रम के लिए निहायत जरूरी समझते हैं।

हम सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन में असमानता और श्रेणीबद्धता तथा तज्जनित विकृतियों को निर्णायक मुद्दा मानते हैं। इसलिए नारी,

6

दलित और अल्पमत की समस्याओं,जिसमें भारतीय विशेषकर हिन्दी-समाज का पिछड़ापन, संकीर्णता, दृष्टिहीनता आदि घनीभूत रूप मे अभिव्यक्ति होते हैं, पर विशेष ज़ोर देते हैं। इन पर हम अंक में आवश्यक सामग्री जुटाने का प्रयास करते रहें हैं और जब इन पर सार्थक प्रतिक्रिया मिलती है तो हमें सन्तोष होता है। विज्ञान विषयक सामग्री के बारे में हमे संशय था। पर वे ही, जैसे क्वान्टम पर लेख श्रृखंला, सबसे ज्यादा पढे जा रहे हैं और उन्हें सन्धान की विशिष्ट सामग्री समझा जा रहा है। हम ऐसे प्रंशसित लेखों को सन्धान पुस्तिका के रूप में पुनप्रकाशित करने की योजना बना रहे हैं।

सन्धान से विशेष रूप से शिकायत बन रही है उसकी कठिनता को लेकर । उसे एक गंभीर और आवश्यक पर कठिन, जटिल और अतिबुद्धिवादी पत्रिका समझा जा रहा है। हम इस आलोचना को गंभीरता से लेते हैं और उसका विश्लेषण करना चाहते हैं। कठिनाई का मुख्य कारण अपरिचय होता है । भारतीय शिक्षा व्यवस्था हमें जटिल से जूझने के लिए तैयार ही नहीं करती । सामान्यत: शिक्षित लोगों के सरोकर और जिज्ञासाएं सीमित होते हैं- हिन्दी क्षेत्र में तो और भी । गंभीर विषयों पर लोकप्रिय लेखन या तो होता नहीं या फिर प्राय: घटिया ढंग से होता है। ऐसे में सिद्धान्त, विचार, दर्शन और समाज विज्ञान संबंधी लेखन कठिनाई तो उत्पन्न करता है- संपादन करने वाला के लिए भी, पर ऐसा लेखन अब अनिवार्य हो गया है। हम साहित्यालोचन, समाजविज्ञान और विचार दर्शन पर कभी- कभी और छिटपुट लेख देने को भी महत्वपूर्ण मानते हैं पर पर्याप्त नहीं। हमारी कोशिश है कि विशेष रूप से हिन्दी क्षेत्र की सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुस्थिति को देखते हुए अमूल परिवर्तन की मुकम्मिल तैयारी में जुटा जाये । इसलिए इस कठिनाई को मिलजुल कर हल करना ही होगा। लेखकों और अनुवादकों से हम जितना आग्रह करते हैं उतना ही पाठकों से करना चाहते हैं कि उन्हें भी अतिरिक्त प्रयास करना पडेगा - अपरिचित किन्तु अनिवार्य से परिचय ही नहीं अंतरंगता बढ़ाने के लिए जो भी करना पड़ता है करना होगा क्योंकि परिक्वता और समझदारी बढ़ाना दायित्व ही नहीं आनंद का भी प्रदान है।

इस अंक में हमने ‘परिपक्वता' और ‘गम्भीरता' को चिन्हित करने वाले ‘प्रबोधन' पर विमर्श के माध्यम से आधुनिकता का मुद्दा उठाया है। बहस की शुरूआत अठारवीं सदी के अन्त में विख्यात जर्मन दार्शनिक इम्यानुएल कांट द्वारा एक अखबार में लिखे गये लेख ‘प्रबोधन क्या हैं ?' (Was 1st Aufclarung?) से की जा रही है। इसी सिलसिले में मिशेल फूको, हेबरमास, रॅबिनो और द्रेफ्यू के लेख भी दिये जा रहे हैं। हम मानते हैं कि विमर्श में दिये गये लेखों का संकलन पर्याप्त नहीं है तथा इनके जरिये प्रबोधन और आधुंनिकता की उजागर होती रूपरेखा में और रंग भरने की जरूरत है। ‘आधुनिकता और आधुनिकताएं' शीर्षक रवि सिन्हा का लेख पुरे विमर्श को एक परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। ‘तर्क' पर उमाशंकर का लेख, चंडीगढ़ के स्थापत्य पर प्रभात का लेख भी इस अंश को समद्ध करते हैं।

इस अंक में, हाल ही में प्रकाशित कविता संग्रह ‘समुद्ध पर हो रही है बारिश' के अनुपम कवि नरेश सक्सेना की एक नई और चन्द पूर्वप्रकाशित कविताओं पर दो समीक्षांए प्रकाशित कर रहे हैं। नरेश जी ने भी अपनी कविताओं का विस्तार किया है। साहित्य पर इस विमर्श के माध्यम से हम साहित्य ही नहीं साहित्यालोचन के भी समाज से अनिवार्य अंतरंग संबंध को चिहिन्त करने की कोशिश में लगे हैं।

इस अंक में हम प्रसिद्ध लेखिका ममता कलिया की कहानी प्रकाशित कर बहुत से पाठकों की शिकायत दूर कर पा रहे हैं। अनुवादों को बेहतर और यथासम्भव कम करते जाने का प्रयास जारी रहेगा। हमें प्रशंसा की नहीं - सहयोग मात्र की भी नहीं-सहभागिता की-जुड़ाव की अपेक्षा है।

7

# आधुनिकता और आधुनिकताएं

रवि सिन्हा

लखनऊ में औषधि -विज्ञान की एक केन्द्रीय प्रयोगशाला है। इस विषय में भारत का यह एक शीर्षस्थ शोध-संस्थान है और अच्छा खासा प्रसिद्ध है। सितम्बर में इसके स्थापना -दिवस के समारोह आयोजित हुए। एक कार्यक्रम वाद- विवाद प्रतियोगिता का था। विषय था, ‘विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में ज्योतिष को शामिल किया जाना सही दिशा में उठाया गया एक कदम है।' शहर के विश्वविद्यालय कॉलेजों और शोध-संस्थानों की टीमें इसमें भाग लेने वाली थीं। निर्णायक मण्डल में दर्शन- शास्त्र की एक प्रोफेसर को और प्राचीन इतिहास के एक अवकाश-प्राप्त प्रोफेसर को रखा गया था। भौतिक विज्ञान से सम्बन्धित होने के कारण मुझे भी निर्णायक मण्डल के एक सदस्य के रूप में बुलाया गया था। जिज्ञासावश मैंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया था।

इस कार्यक्रम में जो तर्क प्रस्तुत किये गये और श्रेताओं ने, जिनमें अच्छी खासी तादाद शोध-संस्थानों के विज्ञान- कर्मियों की थी, जिन बातों पर तालियां बजायीं या जिन बातों का उपहास किया, वह सब काफी दिलचस्प था। भारतीय ‘आधुनिकता' की विडम्बनाओं की जाँच-पड़ताल में इनसे काफी मदद मिलती है। लेकिन इस प्रसंग के विश्लेषण की बजाय अपनी बात एक वाकये से शुरू करना चाहूंगा जिससे मैं उस

8

कार्यक्रम से पहले रूबरू हुआ था। हुआ यूं कि मैं वहाँ समय से पहले पहुँच गया था। लिहाजा मुझे एक प्रयोगशाला में बिठाया गया। यह प्रयोगशाला उस वैज्ञनिक मित्र की थी जो कार्यक्रम के मुख्य आयोजक थे। उन्होंने तीन-चार शोधकर्ताओं से मेरा परिचय कराया । कुछ देर औपचारिक बातें चलती रहीं। प्रयोगशाला तरह-तरह के यन्त्रों. कम्प्यूटरों. खुर्दबीनों ओर परखनलियों से भरी हुई थीं। यन्त्रों के इलेक्ट्रानिक पैनलों पर रंग-बिरंगी संख्याएं आ जा रही थीं । माहौल अच्छा-खासा वैज्ञानिक था। एक शोधकर्ता महोदय संजय गांधी पोस्ट ग्रेजुएट इन्स्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइन्सेज के डॉक्टर थे जो इस प्रयोलशाला में शोध करने आये थे। एक अन्य महिला शोधकर्ता भी वहीं काम कर रही थीं। थोड़े समय के बाद महिला वैज्ञनिक ने एस.जी.पी.जी आई के डॉक्टर साहब से लंच पर चलने का प्रस्ताव रखा, जिसपर वे बोले, ‘आज मैं लंच कैसे करूँगा, आज तो मेरा व्रत है।'

वाकया तो इतना ही था। उस समय मुझे ऐसा लगा था नहीं जैसे कोई वाकया हुआ हो। भारतीय समाज के, उसमें हिन्दी समाज के और उसमें भी पुरबिया समाज के किसी व्यक्ति के लिए इसमें ताज्जुब कोई बात नहीं थी। प्रयोगशाला के वैज्ञनिकों माहौल और शोध-वैज्ञनिक के व्रत-उपवास के बीच संस्कृति, परम्परा, इतिहास और बदलाव की लटें उलझी हुई थीं, लेकिन हममें से ज्यादातर लोग इस उलझाव में टंगे रहने के आदी हैं। प्रत्येक समाज अपना सांस्कृतिक ताना-बाना बुने होता है और अपने बनाये उस संजाल में ही स्थित होता है। भारतीय समाज ने भी ऐसा ही किया है। मुझे उसी समय याद आया, जिस दिन यह राष्ट्र गणेश को दूध पिला रहा था उसके दूसरे दिन यहाँ के स्थानीय अखबारों में खबर छपीं थी कि इसी केन्द्रीय प्रयोगशाला के दो या ढाई सौ लोगों ने, जिनमें अच्छी खासी तादाद वैज्ञनिकों की थी, श्रद्धापूर्वक गणेश को दुग्धपान कराया था। फिर वैज्ञानिक के व्रत में अजूबा क्या था। बात आई-गई हो गयी। लेकिना यन्त्रों , इलेक्ट्रानिक पैनलों और आती-जाती संख्याओं के बीच सफेद चोंगे वाला एक वैज्ञानिक व्रत पर होने के कारण लन्च नहीं लेने वाला था –यह ‘इमेज' अवचेतन की किसी परत में दर्ज हो गयी थी, जो वाद-विवाद प्रतियोगिता के तर्क-वितर्क के बीच उभरती और तिरोहित होती रही। आज लगभग महीने भर बाद मैं यकीन के साथ कह सकता हूँ कि यह वाकई एक वाकया था जिससे युगों और संस्कृतियों के बदलने या न बदलने के मसले जुडे हुए हैं। इस लेख में मैं इसी बाबत कुछ नतीजों तक पहुँचने की कोशिश करूंगा।

इसमें कोई शुबहा नहीं कि उस वैज्ञानिक को व्रत रखने का अधिकार है। व्यक्ति के अधिकारों का सम्बन्ध सामाजिक - राजनैतिक व्यवस्था से है और आधुनिक व्यवस्थाएं, चाहे वे बुर्जुआ उदारवादी व्यवस्थांएँ हों या समाजवादी, व्यक्ति को आस्था का अधिकार देती हैं। आस्थाएँ प्राय: ऐसी हो सकती है जिनका वस्तुजगत के तथ्यों से, प्राकृतिक नियमों से और विज्ञान से सीधा विरोध हो। आधुनिक व्यवस्थाओं का विज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। आधुनिकता और विज्ञान एक ही युगान्तरकारी दौर की पैदाइश हैं और विज्ञान आधुनिकता की संरचना का एक बुनियादी घटक हैं। फिर आधुनिकता की सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था व्यक्ति को ऐसे अधिकार क्यों देती है जिससे विज्ञान-विरोधी आस्थाओं ओर अवैज्ञानिक दृष्टिकोण को छूट मिलती है?

दरअसल, धर्म पर आधरित पूर्व- आधुनिक सामाजिक राजनैतिक व्यवस्थाएं तो व्यक्ति को आस्था का अधिकार नहीं देती। प्राय: वे एक निश्चित धार्मिक आस्था को व्यक्ति के लिए निर्धारित कर देती हैं, अनिवार्य बना देती है। जबकि आधुनिक व्यवस्थाएं, जिनकी विज्ञान-सम्मत बौद्धिक कसौटियों पर धार्मिक आस्थाँए प्राय: गलत या असन्तोषजनक पायी जायेंगी, व्यक्तिव को किसी भी प्रकार की आस्था का अधिकार

9

देती हैं। इसके अनेक कारण हैं। आधुनिकता के उद्भभव एवं विकास का इतिहास इन कारणों में घुला- मिला है। लेकिन निचोड़ के रूप में कहा जाय तो आधुनिकता की अन्तभूर्त दार्शनिक बनावट में आत्मनिरीक्षण का या आत्मप्रश्नेयता (reflexivity) का तत्व समाहित है। स्वयं को प्रश्नों के घेरे में रखना एक आधुनिक प्रवृति का गुण है। विज्ञान के सर्व- अन्वेषी और खुले छोर वाला होने के चरित्र से इस गुण का सम्बन्ध है। आधुनिकता के राजनैतिक और सामजिक दर्शन में इससे एक प्रकार के उदारतावाद (liberalism) का उद्भभव होता है।

इसका वैज्ञनिका- दार्शनिका पक्ष इस बात से सम्बन्धित है कि विज्ञान जहाँ तक पहुचाँ होता है वहीं तक के बारे में दावे करता है। वहाँ से आगे के क्षेत्र के बारे में चुप रहता है। आस्था एवं विचार की कोई अवैज्ञनिका प्रणाली यदि इस आगे के क्षेत्र के बारे में निश्चित दावे करने लगे तो विज्ञान के पास उसके प्रतिकार का तब तक कोई उपाय नहीं रहता जब तक कि वह क्षेत्र उसके दायरे में न आ जाय। अपनी ही कठोर प्रणाली से विज्ञान के बंधे होने का फायदा अवैज्ञनिक विचार-प्रणालियाँ उठती हैं जो स्वयं आन्तरिक सुसंगतता (interna consistency) की किसी कसौटी का पालन नहीं करती। अगर विज्ञान उनके अधिकांश दावों को गलत साबित कर चुका है तो वे उन बाकी बचे दावों पर कायम रहती हैं जिनके बारे में विज्ञान अभी चुप है।

उपरोक्त उदारवावाद का राजनैतिक-सामाजिक पक्ष वर्ग, समुदाय और व्यक्तियों के हितों तथा उनकी अपनी बनावटों से जुड़ा है। उदाहरण के लिए बुर्जुआ राजनैतिक दर्शन व्यक्ति की स्वतंत्रता की एक निश्चित प्रकार की अवधारणा को आधारभूत मूल्य बनाकर चलता है जिसमें व्यक्ति के इर्द-गिर्द एक घेरा बनता है। यह घेरा अनुल्लंधनीय है। इस घेरे के अन्दर व्यक्ति की सम्पत्ति भी सुरक्षित है और उसकी दरिद्रता भी, वह वैज्ञनिकों विचार मानने को भी स्वतन्त्र है और अन्धविश्वासी आस्था रखने को भी बुर्जुआ राजनैतिक दर्शन पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली पर आधरित है। इसके द्वारा निर्देशित व्यक्ति की स्वतन्त्रता एक तरह औपचारिक है और दूसरी तरफ लचीली है। औपचारिक स्वतन्त्रता को ययार्थ में ढाल पाने की हद इस बात से निर्धारित होती है कि आप किस वर्ग का हिस्सा हैं, आपकी आर्थिक दशा कैसी है, आपकी आर्थिक क्षमता का स्रोत क्या है और राजनैतिक तथा व्यवस्थागत शक्तियों से आपके हितों का कैसा तालमेल बैठता है। यह स्वतन्त्रता लचीली इस हद तक है कि यह अर्थिक, राजनैतिक और सामजिक परिस्थितियों के मुताबिक अलग-अलग व्यक्तियों के सन्दर्भ में अपना आकार आश्चर्यजन रूप से फैला लेती है या अपने को बिल्कुल सिकोड़ लेती है।

एक तीसरा पक्ष भी है। यह व्यक्ति की अपनी बनावट से सम्बन्धित है। इसमें संस्कृति-परम्परा का प्रभाव भी सम्मिलित है और वह व्यक्तिगत मनोविज्ञान भी जिसके चलते एक ही यथार्थ अलग-अलग व्यक्ति-चेतना में अलग-अलग तरह से प्रतिबिम्बित होता है। संस्कृति-परंम्परा व्यक्ति की बनावट का अनिवार्य हिस्सा होते हैं । लेकिन बनावट के इस हिस्से में युद्ध भी चलता रहता है। संस्कृति ओर तर्कबुद्धि के बीच का युद्ध परम्परा और उपयोगिता के बीच का युद्ध । व्यक्तिगत मनोविज्ञान कोई तर्कसंगत संरचना नहीं होती। इसमे प्राय: कई परस्पर-विरोधी तर्क-पद्धतियों का समावेश होता है।

सफेद चोगे वाले शोध-वैज्ञनिक के व्रत- उपवास की परिघटना में इन सभी पक्षों का प्रभाव देखा जा सकता है। विज्ञान की सख्त प्रणाली और अपनी पकड़ से बाहर के विषयों पर चुप्पी उस वैज्ञनिक को यह मौका देती है कि वह अपने पेशे में वैज्ञनिक रहे ओर अपनी आस्थ एवं निजी आचार-व्यवहार में धार्मिका और पारम्पारिक। बुर्जआ राजनैतिक तन्त्र उसे ऐसा करने का अधिकार देता है। लेकिन मौका अधिकार

10

होने से अनिवार्यत: यह नतीजा नहीं निकलता कि वह ऐसा करेगा ही । उसकी सांस्कृतिक-मनोवैज्ञनिक बनावट यह निश्चित करती है कि छूट और अधिकार से मिली जगह में अपने लिए वह किस प्रकार के आचार-व्यवहार की और किन आस्थाओं की निजी व्यवस्था बनाए।

2

वैज्ञनिक के व्रत की परिघटना के अन्तर्भूत यथार्थ को समझने की कोशिश ऐसा आभास दे सकती है कि इसके निश्चित कारण हैं अत: इसमें कोई विडम्बना नहीं है । यह आभास भ्रामक है। विडम्बनाएं भी यथार्थ होती हैं और उनके भी निश्चित कारण होते हैं। उनके वास्तविक होने का अर्थ यह नहीं कि उन्हें स्वीकार लेना चहिए या उन्हें बस समझकर छोड देना चाहिए। इस वैज्ञनिक की कथा में भारतीय सभ्यता-संस्कृति के वर्तमान स्वरूप की और यहाँ के समाज -राजनीति की मौजूदा बनावट की विडम्बनाएँ छिपी हुई हैं।

यह सच नहीं है कि ऐसी विडम्बना भारत में या किसी ऐसे देश में ही सम्भव हैं जहां की सामजिक संरचना बडे अंशों में पूर्व-आधुनिक है। पश्चिमी देशो के आधुनिक समाज में भी वैज्ञानिक की अच्छी खासी तादाद धार्मिक आस्थाओं वाली है। यही नहीं, मैं स्वयं एक प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री को जानता हूं जो साथ-साथ पादरी भी हैं। खुद अल्वर्ट आइन्सटाइन ईश्वर की दुहाई देने की बजाय नहीं आते थे। लेकिन आइन्सटान के ईश्वर और भारतीय वैज्ञनिक के व्रत-उपवास में गुणात्मक अन्तर है। इस अन्तर पर सीधे उंगली रखना तो मुश्किल है। इसके कुछ कारणों का उल्लेख किया जा सकता है।

धार्मिका आस्था का सीधा विकल्प तो वैज्ञनिक दृष्टि से सम्पन्न अनीश्रवाद ही है । लेकिन ऐसे अनीशिवादियों की तादाद किसी भी समाज में थोड़ी है। दूसरे, आधुनिकता को अनैतिहासिक होगा बल्कि यह आधुनिकता की एक अतिरेकी दार्शनिक व्याख्या भी साबित होगा। विज्ञान आधुनिकता के उद्गभम-स्थलों में से एक था। और स्वयं विज्ञान भी अपने शुरूआती दौर में धार्मिक परिवेश में अलाप्ति था। आधुनिक विज्ञान को व्यवस्थित करने वाले महान भौतिकशास्त्री आइजक न्यूटन ने अपना जितना समय विज्ञान और गणित पर लगाया उससे कई गुना अधिक बाइबिल की व्याख्या पर और अन्धविश्वास से प्रेरित अलकीमियाई (alchemist) प्रयोगों पर खर्च किया। और यदि विज्ञान के उद्भभव की ऐतिहासिक परिस्थितियों मे धर्म का इतना प्रभाव नहीं भी रहता होता, तब भी विज्ञान के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह प्रत्येक व्यक्ति को वैज्ञनिक दृष्टि से सम्पन्ना बना देता । हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि व्यक्ति की बनावट में संस्कृति-परम्परा का भारी योगदान होता है। एक निश्चित संस्कृति से निर्मित व्यक्ति उस संस्कृति का वाहक भी होता है और इस प्रकार उस संस्कृति का पुनरूत्पादन होता रहता है। यदि विज्ञान या आधुनिक तर्कबुद्धि इस संस्कृति के अधिकांश अवयवों के विरूद्ध खड़े हो जाते हैं तो भी उसके विलोप की या नई विज्ञान-सम्मत संस्कृति के द्वारा विस्थापन की सम्भावना कुछ पीढ़ियों या कुछ शताब्दियों के दौरान मूर्त नहीं कराई जा सकती। फिर इसमें इस बात से भी फर्क पड़ता है कि जिस उत्पादन प्रणाली और व्यवस्था के अधीन समाज की केन्द्रीय गति संचालित होती है वह वैज्ञनिक तर्कबुद्धि और संस्कृति के बीच किस प्रकार का तालमेल बिठाती है और उसमें वैज्ञनिकों दृष्टिकोण को कितना प्रोत्साहन मिलता है ?या उसे कितना बाधित किया जाता है।

इस सबसे नतीजा यह निकलता है कि पूर्णत: आधुनिक समाज और काफी हद तक पूर्व- आधुनिक समाज के बीच का अन्तर केवल धर्म और आस्था के क्षेत्र में नहीं। किया जा सकता । आधुनिक समाज में भी

11

अधिकांश लोग यहाँ तक कि वैज्ञनिक भी धार्मिक आस्था वाले हो सकते हैं। फर्क इस बात में पड़ता है कि सामजिक और व्यक्तिगत जीवन में आस्था और तर्कबुद्धि के बीच का ‘श्रम-विभाजन' किस प्रकार का है, धर्म का स्वरूप कैसा और वह जीवन-पद्धति के निर्धारण में किस हद तक और किस प्रकार का हस्तक्षेप करता है। इसमे अलग-अलग धमों के बीच का अन्तर। दो बहुत भिन्न समाजों में एक ही धर्म अलग-अलग सामाजिक रूप धारण करता है। व्यक्तिगत आस्थाओं और मान्यताओं के स्तर पर भी यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। आइन्सटाइन के ईश्वर और व्रत-उपवास वाले भारतीय वैज्ञानिक के ईश्वर में आकाश-पाताल का फर्क है। आइन्सटाइन का ईश्वर स्पिनोजा के ईश्वर की तरह प्रकृति के समस्त नियमों का समग्र रूप है । व्यक्ति या मानव समाज के जीवन में उसकी कोई रूचि या हस्तक्षेप नहीं है। उसे प्रसन्न करने का कोई अर्थ है, न आवश्यकता । वह न तो पुरस्कार दे सकता है, न ही दण्ड। व्रत- उपवास वाले भारतीय वैज्ञनिक का ईश्वर उस ईश्वर से सर्वथा भिन्न है।

ईश्वर के अतिरिक्त धर्म के अन्य पहलू भी हैं जिनमें आधुनिक और पूर्व-आधुनिक का भेद प्रकट होता है। धर्म से नि:सृत जीवन मूल्यों का स्वरूप सामजिक संरचना का घटक बनता है तो दूसरी तरफ सामाजिक बनावट इन जीवन-मूल्यों के स्वरूप को भी निर्धारित करती है और कालान्तर में इसके परिवर्तन की दिशा तय करती है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स बेबर ने प्रोटेस्टेण्ड मूल्यों (Pforestant ethic) में पूंजीवादी समाज के उद्भभव के स्रोत देखे थे। वे इस प्रश्न का उतर ढूँढने की कोशिश कर रहे थे कि पूंजीवाद का उद्भभव पश्चिमी यूरोप में ही क्यों हुआ, जबकि कई अन्य सभ्यताएँ मध्यकालीन यूरोप से कहीं अधिक विकसित थीं। अगर सारा जोर उद्भभव के स्रोत ढूंढने पर न हो और मुद्दा का सामजिक संरचना और धर्म के स्वरूप के अन्तर्सम्बन्धों को समझने का हो तो कार्य-कारण सम्बन्ध की दिशा बदल भी सकती है या यह सम्बन्ध उभयमुखी सिद्ध हो सकता है। प्रोटेस्टेण्ट मूल्यों से जिस पूँजीवाद के जन्म में सुविधा हुई हो वही वापस उन मूल्यों मे और अधिक व्यापक स्तर, पर समूची ईसाइयत में बड़ा फर्क डाल सकता है। यूरोपीय समाज में (और काफी हद तक उत्तर अमेरिकी समाज में भी ) धर्म की भूमिका और उसके स्वरूप में पिछले चार-पांच सालों के दौरान भारी परिवर्तन आये हैं। धर्म कायम है लेकिन सामजिक जीवन में उसके हस्तक्षेप की हर्दे पूर्व-आधुनिक समाजों की तुलना में बहुत अधिक सख्ती से तय की गयी है। उदाहरण के लिए चर्च और राज्यसत्ता के बीच यूरोप में लम्बा संघर्ष चला ओर राजनैतिक प्रक्रिया में धर्म के सीधे हस्तक्षेप को समाप्त किया गया । धर्म और राजनीति के विच्छेद (secularism) का राजनैतिक दर्शन इस लम्बे संघर्ष के दौरान ही स्थापित हुआ और यह आधुनिकता की सरंचना का एक प्रमुख घटक बना। इसकी तुलना यदि तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों से करें तो पायेंगे कि आधुनिकता का यह प्रमुख घटक अभी यहाँ स्थापित नहीं हो पाया है। और यह तब जबाकि उत्पादन प्रणाली और राजनैतिक व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद का आगमन इन सभी देशों में हो चुका है।

ऐसे अन्य उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें आधुनिकता और पूर्व-आधुनिकता के बीच लटके हुए तीसरी दुनिया के समाजों को गति और विडम्बनों दोनों को ही देखा जा सकता है। इस समाजों को समझने के प्रयास में आधुनिकता का प्रश्न केन्द्रीय महत्व का सिद्ध होता है।

आज से पचास साल पहले आधुनिकता के सार्वभौमिका दावों और उसकी भूमाण्डलिक महत्वाकांक्षाओं पर इस कदर सवाल नहीं खड़े किये जा रहे थे जैसे कि आज किये जा रहे हैं। आज से दस-बीस साल पहले

12

जब उत्तर-आधुनिकता का विर्मश उभरा था और पूरे चढ़ान पर था, ये सवाल ओर भी ऊँची आवाज मे उठ रहे थे। लेकिन बीसवीं सदी के मध्यकाल पर नजर डालें तो आधुनिकीकरण (modernisation) के क्लासिकीय सिद्धान्तों का ही बोलवाला था। बल्कि यह कहा जा सकता है कि ये सिद्धान्त स्थपित जड़सूत्र की शक्ल अख्तियार कर चुके थे। इनके मुताबिक यूरोप में जन्मी आधुनिकता देर-सबेर और देर की बजाय सबेर,पूरी दुनिया को अपने आगोश में ले लेने वाली थी । यूरोप में आधुनिक समाज की रचना करने वाली सांस्कृतिक परियोजना पूर्व-आधुनिक और उत्तर - औपनिवेशिक समाजों में आधुनिकता की वही बनावट बुनने वाली थी। बुर्जुआ लोकतन्त्र की वही राजनैतिक संस्थांएँ और प्रक्रियाँए सभी देशों में स्थापित होने वाली थीं जिन्होंने यूरोप को आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था दी थी। औद्योगीकरण की केन्द्रीय रणनीति पूँजी और बाजार को भूमाण्डलिक विस्तार प्रदान करने वाली थी।

आधुनिकता के इस पूँजीवादी रूप को समाजवाद से चुनौती थी मगर यह चुनौती आधुनिकता के दायरे के भीतर ही थी। मार्क्स ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही आधुनिकता के विश्व-व्यापी विजय की भविष्यवाणी की थी। यह जरूर था कि उस समय इतिहास पूँजीवादी आधुनिकता की राह पकड़े हुए था। कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो का प्रसिद्ध वाक्य है, ‘एक शब्द में कहें तो यह (पूँजीपति वर्ग) दुनिया को अपनी शक्ल में ढाल लेता हैं।' आधुनिकता की मार्क्सवादी आलोचना दरअसल पूँजीवादी आधुनिकता की आलोचना थी। उसका केन्द्रीय तत्व यह था कि अपने को स्थपित कर लेने के बाद पूँजीवाद आधुनिकता के आदर्शो का परित्याग कर देता है या उन्हें वर्गहित दायरे में बाँध देता है। प्रगति, न्याय, समता और मुक्ति के आदर्शो को वास्तविक रूप आधुनिकता की समाजवादी राह पकडकर ही दिया जा सकता है।

बीसवीं सदी के मध्य की इन दोनों की महत्वाकांक्षाओं को धक्का लगा है। एक शक्ल में ढले समाजों की परिकल्पनाँए बाद के दशकों के यथार्थ पर खड़े होकर देखने पर, उत्तरोत्तर दूर होती जा रही कल्पना की दुनिया की चीजें लग रही हैं। इन महत्वाकांक्षाओं का टूटना कहीं विस्फोट और विघ्वंस के रूप में दिखाई पड़ा है तो कहीं मद्धम गति से बदलते हुए परिदृश्य के कालान्तर में पूरी तरह बदल जाने के रूप में सामने आया है। समाजवादी खेमे में सोवियत संघ का विघटन और उसके पहले पूर्वी यूरोप की उथल-पुथल एक विस्फोट के रूप में सामने आये तो चीन की समाजवादी व्यवस्था ने एक आन्तरिक रूपान्तरण की प्रक्रिया में पूँजीवाद की शक्ल अख्यितार कर ली। साम्राज्यवादी खेमे के केन्द्र में गुणात्मक परिवर्तन तो नहीं हुआ। विकासित पूँजीवादी देश व्यवस्था के रूप में स्थायित्व लिए रहे । लेकिन तीसरी दुनिया में पूंजीवादी विकास को अपेंक्षित गतिरेखा पर नहीं रखा जा सका। पूँजी और बाजार ने इन समाजों में अपनी जगह तो बनायी है लेकिन आधुनिकता की राजनैतिक संस्थाएँ व प्रक्रियाँए या तो अनुपस्थित हैं या अत्यन्त विकृत रूप में अस्तित्व में आई हैं। सबसे महत्वपूर्ण यह कि इन देशों मे सामजिक-सांस्कृतिक रूपान्तरण की गति बेहद धीमी है और दिशा सीधी आधुनिकता की तरफ नहीं है। मानो पूर्व- आधुनिकता के प्रतिरोध और आधुनिकता के खिंचाव की परिणामी गति इन्हें दोनों से भिन्न दिशाओं में लिए चली जा रही हो।

13

कुल मिलाकर, बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का इतिहस पूर्व-लिखित वृत्तान्त के मुताबिक नहीं चला है। दुनिया यूरोप की शक्ल में नहीं ढली है, न ही उसने समाजवाद की राह पकड़ी है। समरूपता की जगह विविधता सामने आयी है। जहाँ समतल की अपेक्षा थी वहाँ विषय क्षेत्र मिले हैं। राष्ट्रीयता, भाषा संस्कृति, परम्परा नृजातीयता और धर्म पर आधारित पहचानें विलयन-संलयन की बजाय प्राय: और अधिक ठोस बनी हैं। और यह सब इसके बावजूद हुआ है कि पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली ने पूरी दुनिया को अपनी चपेट में ले किया है। पूँजावादी आधुनिकता के सिद्धान्तकार परेशान हैं। उत्पादन प्रणाली के सिरे से देखने पर उन्हें ‘इतिहास का अन्त’ दिखाई देता है और सभ्यता -संस्कृति-धर्म - परम्परा के छोर से देखने पर ‘सभ्यतओं की टकराहट’ का खतरा नजर आता है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के इस विकासक्रम ने कुछ अतिरेकी या अतिसामान्यीकरण वाले विचारों को भी जन्म दिया है। उत्तर-आधुनिकता का सिद्धान्त इसका एक प्रमुख उदाहरण है। उत्तर-सरंचनावाद इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि का काम करता है। तर्कबुद्धि पर आधुनिकता के ‘अति-विश्वास' को यह विचार चुनौती देता है और सत्य, ज्ञान , यथार्थ इत्यादि की धारणाओं को संशय की दृष्टि से देखता है। इनके वस्तुगत अस्तित्व पर यह प्रश्नचिन्ह लगाता है और इन्हें एक विशिष्ट समय और संस्कृति की भाषाई उपज मानता है। विज्ञान को यह अनेक मालवीय रचनाओं में से एक मानता है और उसे वस्तुजगत के सही ज्ञान तक पहूँचने का एकमात्र रास्ता होने की मान्यता नहीं देता। यह समाज की किसी एकमूश्त अन्तर्भूत संरचना के अस्तित्व से इन्कार करना है और उसे बहरूप परिघटनाओं का खण्ड-खण्ड समूह मानता है। यह इतिहास की किसी निश्चित गति की संभावना से भी इन्कार करता है और प्रगति की धारणा को ऐसे अनेक ‘महाख्यानों' (Grand Narrative) में से एक मानता है जिसमे आधुनिक युग के दौरान लोगों की आस्था बन गयी थी। अब ऐसी आस्थाओं के टूटने का समय आ गया है। इस विचार में नैतिक मूल्यों के पीछे कोई सार्वभौमिक, पारसांस्कृतिक आधार नहीं होते। प्रत्येक संस्कृति और सामजिक जीवनरूप की अपनी मूल्य-व्यवस्था होती है जिसे उस संस्कृति से बाहर के तर्कों और कसौटियों पर नहीं कसा जा सकता । प्रबोधन-काल में पैदा हुई यूरोपीय तर्कबुद्धि में अति-विश्वास की आलोचना से शुरू होने वाला यह दर्शन अन्तत: यथास्थितिवाद और नैतिक सापेक्षतावाद के अत्यन्त समस्याग्रस्त दर्शन तक जा पहुँचता है।

यह सच है कि बीसवीं सदी के मध्य तक आधुनिकता की जो अवधारणाएँ प्रचलन में थीं उनमें सरलीकरण था, यान्त्रिकता थी, सैद्धान्तिक अति-महत्वाकाँक्षा थी, कर्त्ता केन्द्रिक तर्कबुद्धि (subject centred reason) पर आधरित बुद्धिवाद (rationalism) पर जोर था और दूसरी तरफ उसकी प्रतिक्रिया में अदूरदर्शी अनुभववाद (empiricism) यदा-कदा सहारा लेने की प्रवृत्ति थी। इतिहास की गति में आन्तरिक तर्क ढूँढने वाली आधुनिकता आकस्मिकता (contingency) की भूमिका को प्राय: नजरअन्दाज करती थी और ऋजुरेखीयता का आतिक्रमण करने वाली जटिल, बहुदैशिक और अनेक यात्रापथों वाली गतिकी की सम्भावना से इन्कार करती थी। आज की जगह पर खड़े होकर देखने से ऐसी आधुनिकता की सीमाएँ स्पष्ट हैं और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि दुनिया को अपनी शक्ल में ढाल लेने की महत्वाकांक्षाएँ पूरी नहीं होती हैं।

एकरूप (uniform) और समांगी (homogenous) आधुनिकता की सीमाओं और उसपर उत्तर-आधुनिकता के आक्रमणों ने बहुविध, बहुरूप आधुनिकताओं (multiple modernities) की अवधारणा को बल

14

प्रदान किया है। अनेक आधुनिकताओं की धारणा का प्रस्थान बिन्दु है आधुनिकता की यूरोपीय परियोजना के भूमण्डलीकरण के प्रयासों की असफलताएँ। यहाँ स्वीकार किया जाता है कि बीसवीं सदी के इतिहास ने इस परियोजनाओं की समांगीकरणवादी और प्रभुत्ववादी अपेक्षाओं को गलत सिद्ध किया है। समांगीकृत और एकरूप आधुनिकता की बजाय वैविध्यपूर्ण, अनैकिक (plural) सरंचनात्मक स्तर पर विभेदीकृत आधुनिकता ने अलग-अलग सभ्याताओं और संस्कृतियों में अलग-अलग रूप धारण किये हैं। ये आधुनिकताएँ पारम्परिक सामजिक संरचनाओं का जारी रूप नहीं है। परम्परा और आधुनिकता के बीच यहाँ भी दरार है और इस दरार के बाद नयी शुरूआत है। नयी राजनैतिक संस्थाँए हैं, नयी अर्थ-व्यवस्था है, समाज की नयी गति है, उदीयमान संस्कृति के नये तत्व हैं। ये सभी पश्चिमी आधुनिकता की नकल नहीं हैं, हालाँकि वह इनके लिए सन्दर्भ-बिन्दु (reference point) अवश्य है। विविध पूर्व-आधुनिक संस्कृतियों और परम्पराओं ने अलग-अलग आधुनिकताओं के निर्माण में भूमिका निभायी है। गैर-पश्चिमी देशों में ये आधुनिकताएँ जिस गति की के फलस्वरूप अस्तित्व में आई हैं वह पाश्चात्या आधुनिकता से सन्दर्भित होने के बावजूद उससे बहुत सी भिन्नताएँ लिए हुए है। और इन गैर-पश्चिमी आधुनिकताओं ने प्राय: पाश्चात्या-विरोधी आन्दोलनों को जन्म दिया है जो कभी-कभी तो आधुनिकता-विरोध की हद तक भी पहुँचते दिखाई देते हैं।

अनेक आधुनिकताओं के सिद्धान्त की प्रमुख स्थापना है कि आधुनिकता और पाश्चात्यता एक ही चीजें नहीं है, न ही पाश्चात्य आधुनिकता अन्य आधुनिकतओं की तुलना में अधिक प्रामाणिक है, हालाँकि यह सच है कि इसका यूरोपीय संस्करण इतिहास की पहली आधुनिकता है और अन्य आधुनिकताओं के लिए सन्दर्भ बिन्दु है। आधुनिक युग का समूचा इतिहास विविध एवं अनेक सांस्कृतिक परियोजनओं की परिकल्पना और रचना-पुनर्रचना का इतिहास है जिसबहुसंख्या सामजिक-राजनैतिक शक्तियों ओर आन्दोलनों की सृजनात्मकता प्रतिफलित हुई है। विभिन्न सामजिक और वैचरिक आन्दोलनों ने आधुनिकता की भिन्न अवधारणाओं को मूर्तिमान करने का प्रयास किये हैं ओर विभिन्न राष्ट्रीयताओं, संस्कृतियों और विचारधाराओं के अधीन बहुविध आधुनिकताओं की वैशिवक परियोजना फलीभूत हुई हैं।

आधुनिकता के प्रबोधन- कालीन यूरोपीय संस्करण की सीमाओं और उसकी उत्तर-आधुनिक आलोचना की अतिरेकताओं को देखते हुए अनेक आधुनिकताओं के सिद्धान्त का प्रयोजन समझ में आता है। लेकिन इसमें एक प्रकार का सैद्धान्तिक असयंयम या विविधता का अपव्यय दिखलायी पड़ता है जिसकी जड़ में सांस्कृतिक अनेकता और विशिष्टता के महत्व पर अतिरिक्त जोर है । सिद्धान्त यथार्थ की जटिलता से दूर सामान्यीकरणों के वायवीय जगत में विचरण नहीं कर सकता, लेकिन उसका काम यह भी नहीं है कि वह यथार्थ की स्थानिक वीथियों में मारा-मारा फिरे और अनस्थिर परिघटनाओं की चपेट में दिशा और रूप बदलता रहे । अनेक आधुनिकताओं की अवधारणा में लगभग सभी मौजूद सामजिक-राजनैतिक संरचनाओं को आधुनिकता करार देने की असवाधानी है और पूर्व-आधुनिकता के हठधर्मी अस्तित्व को परिभाषा बदलकर समाप्त मान लेने की प्रवृति है।

हमारा मानना है कि आज की दुनिया को समझने के लिए आधुनिकता का कोई सर्वथा नया सिद्धान्त गढ़ने की आवश्यकता नहीं है, न ही आधुनिकता के अन्त की किसी घोषणा की जरूरत है। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि आधुनिकता के केन्द्रीय तत्वों की ठीक पहचान की जाय और यह देखा जाय कि अलग-अलग सांस्कृतिक- सभ्यात्मक परिवेश में ये तत्व कितने और किस प्रकार विविध और भिन्न रूप ग्रहण करते हैं।

15

करेंगे और उसके आगे आधुनिकता के कुछ प्रमुख मूर्तरूपों की चर्चा करेंगे।

रिनेसाँस-रिफार्मेशन-एनलाइटेनमेण्ट-इण्डस्ट्रियलाजेशन की कड़ी में चौदहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक के पाँच सौ वर्षो के दौरान आधुनिकता का यूरोप में सूत्रपात हुआ। ये सारे परिवर्तन यूरोप के सामजिक-सांस्कृतिक शरीर में फलीभूत हुए । अत: यह प्रतीत होना स्वाभविक है कि आधुनिकता अपने मौलिक रूप में यूरोपीय या पाश्चात्य है। लेकिन यह प्रतीति केवल परिघटना और वर्णन के स्तर पर है। यूरोपीय बनावट के अन्दर आधुनिकता के वे मूलभूत देखे जा सकते हैं जो अन्य सामजिक-सांस्कृतिक बनावटों में भी कार्यरत हैं जिन्होंने आधुनिकता के गैर-पश्चिमी संस्करणों की रचना में भी केन्द्रीय भूमिका निभाई है। जैसा कि हमने ही कहा है कि इन मूल तत्वों को कई प्रकार से गिना जा सकता है। हमारी गिनती में आठ तत्व प्रधान बनते हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है-

1. विज्ञान- पश्चाद्दृष्टि से देखने पर इटैलियन रिनेसाँस में आधुनिकता के बीज के पहली बार दिखाई पड़ते हैं । मगर जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है रिनेसाँस अर्थात् पुनर्जागरण मध्युगीन यूरोप के अँधेरे में प्राचीन ग्रीक दर्शन और ज्ञान के दीप फिर से जलाकर कुछ रोशनी करने प्रयास था ताकि आगे की राह तलाशी जा सके। यह आगे की राह आधुनिक विज्ञान के उद्भभव विज्ञान के उद्भभव से शुरू होती है। कोपरनिकस (1473-1543), केपलर (1571-1630), गैलीलिओ (1564-1642) और न्यूटन (1642-1727) इस नयी शुरूआत के महानायक हैं। विज्ञान को प्राय: तकनीकी विकास और उत्पादकता में वृद्धि के रूप में ही पहचाना जाता है। यह आंशिक समझ है जिससे मूलतत्व की छूट जाता है। इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों के बीच भी विज्ञान के उद्भभव की महत्ता ठीक से न आँकने की प्रवृति है। दूसरी तरफ विज्ञानवाद के (scientism) के अतिरेक का खतरा जरूर हैं जिसमें प्रकृति से अलग हुए मानव समाज को केवल प्राकृतिक नियमों के सहारे समझने का दुराग्रह होता है। आधुनिकता की सरंचना में विज्ञान कम से कम चार कारणों से अत्यन्त महत्व का घटक बनता है :

पहला है विज्ञान का दार्शनिक महत्व। विज्ञान यथार्थ की प्रकृति और वस्तुगत ज्ञान की सम्भावना पर जैसी रोशनी डालता है वह पहले सम्भव नहीं थी न केवल यह प्रकृति का ज्ञान सम्भव बनाता है, बल्कि ज्ञान-मीमांसा (epistemology) में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाता है और समूचे मानव-ज्ञान के लिए एक प्रतिमान प्रस्तुत करता है।

दूसरा है आधुनिकता की संरच में विज्ञान से निर्मित प्रणालीशास्त्र (methodology) का महत्व। विज्ञान ज्ञान प्राप्त करने की एक निश्चित प्रणाली निर्धारित करता है जिसमें प्रेक्षण(observation) प्रयोग (experimentation) सिद्धान्त निर्माण (theory building) निगमन (deduction) ,पूर्वानुमान (prediction) और जाँच (test) का व्यवस्थित इस्तेमाल किया जाता है । वैज्ञनिक प्रणाली वस्तुगत ज्ञान का निश्चित साधन बनती है और यथार्थ की प्रकृति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्राकृतिक विज्ञान से पैदा हुई यह प्रणाली कुछ संशोधनों और नये तत्वों (innovation) के साथ सामजिक विज्ञान की प्रणाली का भी आधार बनती है।

तीसरा महत्व इस बात में है कि विज्ञान मानव समाज की प्रकृति के साथ अन्तक्रिया में पैदा होता है। बाकी सभी सामजिक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ मानव समाज की अन्दरूनी क्रियाएँ-प्रक्रियाएँ

16

हैं। इनमें समाज ही कर्त्ता (subject) है और समाज ही वस्तु (object) है। प्राकृतिक विज्ञान में प्रकृति वस्तु है। मानव समाज इस वस्तु पर कार्य करता है जिससे वस्तुगत ज्ञान का सुनिश्चित मॉडल बनता है और प्रकृति पर नियन्त्रण और उसके योजनाबद्ध इस्तेमाल की परिस्थिति पैदा होती है। उल्लेखनीय है कि जो सामजिक सिद्धान्त प्रकृति से समाज के सम्बन्ध पर ध्यान नहीं देते वे समाज को एक बन्द व्यवस्था के रूप में देखते हैं और सामजिक परिवर्तन और विकास के भौतिक आधार तलाश पाने में असफल सिद्ध होते हैं। प्राय: वे अर्थापनवादी चक्र (hermeneutic circle) में उलझकर रह जाते हैं। मार्क्सवाद की सिद्धािन्तों सफलता का एक प्रमुख है कि वह समाज की जटिलता और संश्लिष्टता को नजरअन्दाज किये बिना समाज और प्रकृति के अन्तर्सम्बन्ध को अपनी पकड़ में रखता है ।ऐसा उत्पादक शक्तियों की आवधारणा के जरिये सम्भव होता है। प्रकृति पर नियन्त्रण और उसके इस्तेमाल की क्षमता उत्पादक शक्ति का केन्द्रीय तत्व है और मार्क्सवाद उत्पादक शक्तियों के उत्तरोत्तर विकास को इतिहास की गति का मूल कारण भी मानता है और उसका लक्ष्य भी।

चौथा महत्व तीसरे से जुड़ा है। यह है विज्ञान से तकनीक का विकास तथा प्रकृति पर नियन्त्रण और उसके इस्तेमाल की क्षमता में वृद्धि। यह पहलू विज्ञान के बारे में आम जानकारी का प्रमुख हिस्सा है। औद्योगिक क्रान्ति को संभव बनाने में इसकी केन्द्रीय भूमिका थी।

1. तर्कबुद्धि- यह आधुनिकता के दर्शन, ज्ञानशास्त्र और आचार-व्यवहार का केन्द्रीय तत्व है। तर्कबुद्धि (reason) प्रबोधन-काल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दिशा-निर्देशक सिद्धान्त था । यूँ तो बुद्धिवादी (rationalist) दर्शन की व्यवस्थित शुरूआत देकार्त (1596-1650) के साथ हो चुकी थी। मैं सोंचता हूँ, ‘इसलिए मैं हूँ।' वाले देकार्त का दर्शन शुद्ध आदर्शवादी था जिसमें ज्ञान का एकमात्र संशयरहित आधार व्यक्ति की अन्तदृष्टि और उसके शुद्ध विचार थे जिसमें अनुभव और संस्कृति की कोई मिलावट न की गयी हो। दूसरी धारा ब्रिटिश अनुभववादियों (empiricists) की थी जिनमें जॉन लॉक (1632-1704) का महत्वपूर्ण स्थान है । यह धारा प्राकृतिक विज्ञान से और विशेषत: उसके वस्तुनिष्ठ स्वरूप और प्रायेगिक प्रणाली से प्रभावित थी। लॉक अपने आप को न्यूटन का अधीनस्थ विचार-श्रमिक (philosophical under-labourer) कहा करते थे। फ्रांस के दार्शनिक जैसे वाल्तेयर, मान्तेस्क्यू , दिदेरो, रूसो इत्यादि में बुद्धिवादी और अनुववादी दोनों धाराओं का मेल हुआ और तर्कबुद्धि की अधिक संतुलित तस्वीर उभरी जिसमें अनुभव से स्वतंत्र अन्तर्जात(innate) विचारों की जगह अनुभव से सम्पन्न और प्रयोगों से सत्यापित विचारबुद्धि का केन्द्रीय स्थान था। प्रबोधन काल की तर्कबुद्धि विज्ञानबुद्धि (scientific reason) से संचालित होने लगी। इसका अधिक दार्शनिक स्वरूप इमैनुअल कांट (1748-1804) के विचारों और सिद्धान्तों में प्रकट हुआ, हालाँकि कांट देकार्त की आदर्शवादी धारा में अधिक आते थे। लॉक की अनुभववादी धारा से उनके फर्क अधिक बुनियादी थे।

प्रबोधन जिसे अंग्रेजी में एनलाइटनमेंट के नाम से जाना जाता है और जिसके लिए पार्थ चटर्जी ने अनुवाद में ‘आलोक-प्राप्ति ' का नाम सुझाया है, अपनी दार्शानिक शब्दवली में दृश्य बिम्बों का इस्तेमाल करता है। इस बिम्ब-विधान में तर्कबुद्धि प्रकाश की तरह है जो वस्तुजगत पर पड़ती है तो उसे आलोकित करती है और तब हम उसे देख-समझ पाते हैं। फर्क सिर्फ इतना

17

है कि इस प्रकाश का स्रोत मानव स्वयं है। अनुभव और ज्ञान के विकास के साथ इस प्रकाश स्रोत की शक्ति बढ़ती जाती है और वह वस्तुजगत के बड़े से बड़े क्षेत्र को अन्दर से अन्दर की तहों को अलोकित करने में उत्तरोतर सक्षम होती जाती है। लेकिन स्रोत रहता वहीं है -मनुष्य की प्रज्ञा-शक्ति।

इस प्रकार प्रबोधन काल की तर्कबुद्धि कर्त्ता-केन्द्रिक तर्कबुद्धि (subject centered reason) है। बाद के समय में इसकी अनेक सीमाओं की चर्चा हुई है। मसलन तर्कबुद्धि कि बुद्धिवादी व्याख्या में उसे संस्कृति और इतिहास की विशिष्टताओं से स्वतन्त्र माना गया। दरअसल संस्कृति और सामजिक वातावरण के प्रभाव को तर्कबुद्धि के लिए प्रदूषणकारी समझा गया। लेकिन बाद के समय में स्वयं कर्त्ता की बनावट के बारे में प्रश्न खड़े हुए। कर्त्ता यदि वातावरण से, परिस्थितियों से, संस्कृति और सामजिक परम्पराओं से निर्मित होता है तो उसकी तर्कबुद्धि के शुद्ध और अन्तर्जात होने का कोई अर्थ नहीं है। कर्त्ता के माध्यम से तर्कबुद्धि संस्कृति और परम्परा से प्रभावित होती है या निर्मित होती है। संस्कृतियाँ एवं परम्पराएँ अनेक हैं। ऐसी स्थिति में तर्कबुद्धि की अनेक बनावटें संभव हैं। संस्कृति एवं समाज में संलिप्त तर्कबुद्धि अपनी सार्वभौमिकता के दावे कैसे कर सकता हैं

कांट की तथाकथित आलोचनात्क तर्कबुद्धि (critical reason) हेगेल के जिस द्वन्द्वात्मक तर्कबुद्धि (Dialectal reason) में विकसित हुए थी वह भी आदर्शवाद से ओत-प्रोत थी। मार्क्स की आलोचना इस आदर्शत्मक सार्वभौमिकता को चुनौती देती थी और यह स्पष्ट करती थी कि कांट की आलोचना और हेगेल के द्वन्द्ववाद के बाद भी तर्कबुद्धि का जो स्वरूप उभरा था उसकी संरचना में बुर्जुआ वर्गहित और दृष्टिकोण की सीमांए रची-बसी थीं। लेकिन मार्क्स की आलोचना तर्कबुद्धि को खारिज नहीं करती थी। वह उसकी ऐतिहासिक और सामजिक पैदाइश की हकीकत को पहचानती थी और सामजिक विकास की प्रक्रिया में (जिसमें क्रान्तियाँ अर्थात उत्पादन की प्रणालियों का बदलना शमिल) है उसके स्वयं के विकसित होते जाने की संभावना देखती थी ।

तर्कबुद्धि की हर प्रकार की आलोचना (जिसमें मार्क्सवादी आलोचना शामिल है) तलवार की धार पर चलती है। अंग्रेजी की प्रसिद्ध कहावत का तर्जुमा करते हुए कहें तो नहाने वाले कठोते के पानी के साथ बच्चे को भी फेंक देने का खतरा बना रहता है। उदाहरण के लिए फैंक्फर्ट स्कूल के नवमार्क्सवादियों ने प्रबोधनकालीन तर्कबुद्धि की सीमाएँ देखीं तो इतने निराश हो गये कि ‘डायलेक्टिक्स ऑफ एनलाइटमेंट' जैसी पुस्तकों में तर्कबुद्धि को खारिज करने की हद तक पहुँच गये। उनके उत्तराधिकारी हैबरमास तर्कबुद्धि की हिफाजत की रणनीति विकसित करने में जरूर लगे हैं, मगर सम्प्रेषकीय तर्कबुद्धि (communicative reason) की जो अवधारणा उन्होंने निर्मित की है वह कर्त्ता केन्द्रिक तर्कबुद्धि का बेहतर विकल्प प्रस्तुत करने के प्रयास में विज्ञानबुद्धि का पलड़ा छोड़कर अर्थापनवाद (Hermeneutics) के पक्ष में झुकती दिखाई देती है।

यह विषय बहुत जटिल और बहुत नाजुक है जिसके विस्तार में जाना इस लेख की सामर्थ्य- परिधि के बाहर है। लेकिन एक मोटा खाका खींचा जा सकता है। विज्ञानबुद्धि तर्कबुद्धि की शुरूआत के लिए, अस्थायी या अन्तरिम ही सही, एक आधार अवश्य प्रदान करती है। ऐसा इसलिए

18

सम्भव होता है कि विज्ञानबुद्धि के लिए जो वस्तु (object) सबसे पहले सामने आती है वह प्रकृति है। प्रकृति मानव समाज से व्यवहारत: बाहर है और उसके बारे में वस्तुगत ज्ञान ( कितने भी सीमित अर्थो में) की संभावनाएँ अधिक बनती हैं। इन संभावनाओं के सहारे तर्कबुद्धि वस्तुगन ज्ञान पहुँचने की कोशिश करती है और स्वयं अपना निर्माण भी करती है। जिस हद तक वह अपना निर्माण कर पाती है, उस हद तक वह यथार्थ के दूसरे हिस्सों को भी ( जैसे सामजिक यथार्थ को) अपना वस्तु बनाने लगती है, ओर इस प्रक्रिया में वह अपने आप को भी और आगे निर्मित करती जाती है। किसी ने कहा है कि तर्कबुद्धि का यह निर्माण (construction) एक ऐसे जहाज की मरम्मत की तरह या उसके पूरी तरह बदल दिये जाने की तरह है जो बीच समुद्र में यात्रा कर रहा है। आप पूरे जहाज को खोलकर नहीं रख सकते। हर समय आपके पास पूरा जहाज होना चाहिए, नहीं तो आप डूब जायेंगे। और इसके साथ-साथ जहाज हर वक्त बनने की प्रक्रिया में भी है।

आधुनिकता के केन्द्र में तर्कबुद्धि है ओर वह पूर्ण या आदर्श स्थिति में नहीं है। निरन्तर उसकी मरम्मत चलती रहती है और उसे नया किया जाता रहता है। यह सच्चाई आधुनिकता की आत्मप्रश्नेयता (reflexivity) का उस गुण में भी परिलक्षित होती है जिसकी चर्चा हम आगे करने वाले हैं। गौरतलब यह है कि तर्कबुद्धि का कोई विकल्प नहीं है। इसलिए सारी खामियों के बावजूद आधुनिकता का विकल्प ढूँढ पाना सम्भव नहीं हो सका है।

1. प्रगति की अवधारणा- विज्ञान और तर्कबुद्धि से लैस आधुनिकता मानव जाति के उज्जवल भविष्य के प्रति आशा और उत्साह से भरी हुई थी ।प्रकृति पर नियन्त्रण और उसके इस्तेमाल के जरिये जीवन-स्तर निरन्तर ऊपर उठाया जा सकता है ओर तर्कबुद्धि के जरिये सामजिक जीवनरूप में लगातार विकास होता रहा सकता है। आधुनिकता की परियोजना ऐसे विश्वास पर आधरित है और इस लक्ष्य की ओर अग्रसर है। प्रगति की अवधारणा की जो भी आलोचनाएँ हुई हैं। उत्तर आधुनिक दृष्टिकोण के मुताबिक यह एक ‘महाख्यान' है जो पूर्वाग्रह और प्रभुत्ववाद पर आधरित है। पर्यावरण चिन्ताओं ने प्रकृति के अतिदोहन और विकास की प्राकृतिक सीमाओं (sustainability) के प्रश्न उठाये हैं। मार्क्सवादी आलोचना पूँजावादी आधुनिकता की आलोचना है जिसमें प्रगति की अवधारणा को पूँजी के हित से बाँध देने का विरोध है। नारीवाद आलोचना प्रगति के अब तक के स्वरूप के पितृसत्तात्मक मूल्यों-संरचनाओं से बँधे होने और पुरूष-केन्द्रित होने पर प्रश्न खड़े करती है। कुल मिलाकर देखा जाय तो प्रबोधन-कालीन आशावाद और औद्येगिक क्रान्ति की निर्बाध विजययात्रा पर प्रश्न अवश्य खडे हुए हैं। आधुनिकता का शुरूआती स्वरूप इन प्रश्नों के दबाव में बदलता रहा है। इससे प्रगति की और सामान्य तौर पर आधुनिकता की अवधारणा यांत्रिकता, पक्षपात, अन्याय, अदूरदर्शिता आदि की कमजोरियों से लड़ते हुए आगे ही बढ़ रही है।
2. मानवीय कर्तृव्य का महत्व - सभी पूर्व- आधुनिक व्यवस्थाँए और विचारधाराएँ मानव समाज से बाहर की किसी नियामक सत्ता के दर्शन पर आधरित थी। ऐसी सामजिक व्यवस्थाएँ शाशवत नियमों और श्रेणीगत विभाजनों की व्यवस्थाँए थी। यहाँ मानवीय कर्तव्य (human agency) के लिए कोई जगह नहीं बचती थी। मनुष्य के कर्त्ता होने और प्रकृति तथा समाज की नियमबद्धता के बावजूद उनमें हस्तक्षेप सम्भव होने के व्यवस्थित दर्शन की शुरूआत

19

आधुनिकता के साथ होती है। इससे इतिहास बनाने की संभाविता भी निकलती है और मानव की स्वाधीनता और मुक्ति का दर्शन तथा इसके लिए मनुष्य की जिम्मेदारी का सिद्धान्त भी सामने आता है। मानवीय कर्तव्य के स्वरूप और उसकी सीमाओं पर बहस जरूरी है। यूरोपीय और पूँजीवादी आधुनिकता में व्यक्तिवाद पर अधिक जोर रहा है। व्यक्ति की कर्तृव्यशक्ति ओर उसकी स्वीधनता का लक्ष्य सर्वोपरि माना गया है। मार्क्सवादी धारा कर्तव्य का दूसरा स्वरूप प्रस्तावित करती है। उत्पादक वर्गो के द्वारा इतिहास बनाने को और उनकी मुक्ति के रास्ते मानव जाति की मुक्ति पहुँचने को यहाँ प्रमुखता दी जाती है।

1. आत्मप्रश्नेयता- आधुनिकता की सरंचना में और विशेषकर प्रबोधन की परियोजना में आत्मप्रश्नेयता (reflexivity) का गुण गहरे रचा बसा है। विज्ञान और तर्कबुद्धि दोनों की प्रकृति अपने आप को हमेशा कठघरे में खड़े रखने की है। विज्ञान अपने आप को गलत सिद्ध करने का प्रयास में आगे बढ़ता है और अधिक व्यापक और अधिक गहरे सिद्धान्तों तक पहुँचता है। तर्कबुद्धि भी अपने आप से सवाल पूछती रहती है और इस प्रकिया में अपना परिष्कार करती है। अगर इसका कोई निश्चित रूप जड़सूत्र के रूप में स्थापित हुआ है और इसकी आत्मप्रश्नेयता का गुण क्षारित हुआ है तो ऐसा आधुनिकता के मूर्त रूपों की वर्गीय सांस्कृतिक सीमाओं के चलते हुआ है। इन जड़सूत्रात्मक और प्रभुत्ववादी रूपों को चुनौती भी तर्कबुद्धि के द्वारा ही मिली है। विज्ञान और तर्कबुद्धि आधुनिकता के मूल संघटक हैं ओर इनके चलते, सारी सीमाओं और व्यवधानों बावजूद, आधुनिकता में आत्मप्रश्नेयता का गुण समाहित है।
2. धर्मनिरपेक्षता- एक बार और यह स्पष्ट कर लेने की जरूरत है कि धर्म-निरपेक्षता का अर्थ है राज्य और धर्म का है राज्य और धर्म का सम्पूर्ण विच्छेद। सर्वधर्म समभाव इत्यादि के रूपमें धर्मनिरपेक्षता की जैसी व्याख्याएँ भारतीय राजनीति में और बुद्धिजीवी हलकों में की जाती हैं, वे गलत व्याख्याएँ हैं। धर्म-निरपेक्षता आधुनिकता का मूलभूत अंग है। यह उसके यूरोपीय संस्करण की विशिष्टता नहीं है। राज्य और चर्च के बीच का लम्बा संघर्ष यूरोपीय इतिहास की विशिष्टता के कारण नहीं चला था। उसकी जड़े आधुनिकता की प्रकृति में थी। हमने शुरू में ही कहा है कि व्यक्ति का आस्थावान होना अलग बात है। वह व्यक्ति की बनावट पर निर्भर है। शुरू में ही कहा गया है कि आधुनिकता व्यक्ति को आस्था का अधिकार देती है। यह भी अलग बात है। इन बातों से ऐसा कोई भी भ्रम नहीं पैदा होना चाहिए कि आधुनिकता राज्य का कैसा स्वरूप प्रस्तावित करती है। इस स्वरूप में धर्म का कोई स्थान नहीं लेना चाहिए। अनेक आधुनिकताओं के जिस सिद्धान्त का हमने ऊपर उल्लेख किया है वह इस प्रश्न पर आधुनिकता की राजनैतिक कसौटी को ढीला छोड देता है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि हम राज्य के संवैधनिक और औपचारिक स्वरूप की बात कर रहे हैं।धर्म, जाति , नस्ल इत्यदि का अप्रत्यक्ष प्रभाव आधुनिकों राज्यों पर भी स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। व्यक्ति और समाज में इन कारकों की उपस्थिति को देखते हुए ऐसा प्रभाव ताज्जुब की बात नहीं है।
3. निजी और सार्वजनिक का भेद-सार्वजनिक परिक्षेत्र (public sphere) का जीवन के निजी आयामों से पृथक्करण आधुनिक युग की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। ऐसा नहीं है कि पूर्व-आधुनिक समाज में ऐसा कोई विभाजन नहीं होता। लेकिन आधुनिक समाज-व्यवस्थाएँ इस

20

विभाजन को विधिक और औपचारिक रूप देती हैं। निजी और सार्वजानिक का भेद व्यक्ति की निजता का और उसपर आधरित अधिकारों का राजनैतिक विधान रचने के लिए आवश्यक होता है। सार्वजनिक का स्वरूप इस तरह निर्धारित होता है कि निजी परिक्षेत्र की रक्षा हो सके। आधुनिकता के पाश्चात्य और पूँजीवादी संस्करण के ही प्रधान उदाहरण के रूप में दिखाई देने के चलते इस विभाजन का बुर्जुआ चरित्र अधिक उभरकर सामने आया है। इसमें व्यक्तिवाद पर और व्यक्तिगत सम्पति की पवित्रता पर अधिक जोर है।नारीवाद ने यह स्पष्ट किया है कि निजी की प्रचालिए परिभाषा और सार्वजानिक से इसका मौजूदा विभाजन स्त्रियों के हितों, अधिकारों और उनकी निजता की अवेहलना करता है। लेकिन बुर्जुआ और पितृसत्तात्मक आधुनिकता से आगे का इलाका, जिसमें पूँजीवाद और पितृसत्ता की संरचनाएँ उपस्थित न हों, भी आधुनिकता का ही इलाका होगा। वहाँ भी निजी और सार्वजानिक के बीच किसी न किसी प्रकार का विभेद मौजूद रहेगा। इस विभाजन के बिना व्यक्ति की स्वाधीनता को परिक्षेत्र बढ़ाया नहीं जा सकेगा जो समाजवाद का भी एक प्रमुख लक्ष्य है।

1. न्याय, स्वाधीनता और मुक्ति- ये आधुनिकता के मूल्य विधान (normative structure) के मुख्य लक्ष्य हैं। निश्चय ही आधुनिकता की अब तक की ऐतिहासिक यात्रा इन लक्ष्यों तक सीधे पहुँचने की यात्रा नहीं रही है। एक बार फिर आधुनिकता के पूँजीवादी रास्ते की सीमाएँ नजर आती हैं और आगे उसकी समाजवादी राह पकड़ने की आवश्यकता, बीसवीं शताब्दी के समाजवाद की सीमाओं के बावजूद,स्पष्ट दिखाई पड़ती है। मगर तुलना यहाँ पूर्व- आधुनिक समाज व्यवस्थाओं से है। आधुनिकता के न्याय, स्वाधीनता और मुक्ति के दावे पूर्व आधुनिक समाज के सन्दर्भ में प्रभावी थे और चलते यूरोप मे राजनैतिक और सांस्कृतिक ऊर्जा का एक युगान्तरकारी विस्फोट हुआ था।

आधुनिकता की लाक्षाणिक विशेषताओं की इस सूची में जो अनुपस्थिति सबसे स्पष्ट दिखाई पड़ती है वह है राष्ट्र की अवधारणा की। संभवत: इसे इस सूची में शामिल किया जाना चाहिए था। न शामिल करने का पक्ष में तर्क ये थे कि राष्ट्र-राज्यों की उत्पति के लिए पूँजीवादी विकासक्रम संभवत: अधिक जिम्मेदार था। निश्चय ही यह विकासक्रम आधुनिकता का ही हिस्सा था। लेकिन आधुनिकता की मूल संरचना में राष्ट्र-राज्य की अनिवार्यता संदिग्ध है। इसे तरह समझा जा सकता है कि राष्ट्र-राज्य के इतिहास से आगे, जब पूँजावादी भूमण्डलीकरण, सर्वहारा अन्तराष्ट्रीयकरण या भविष्य की ऐसी किसी प्रक्रिया के चलते राष्ट्र-राज्य की महत्ता क्षीण हो जाय या उसका विलोप हो जाय, तब भी आधुनिकता की यात्रा जारी रहेगी, आधुनिकता जो ऊपर गिनाये आठ तत्वों से निर्मित और संरचित है।

5

आधुनिकता की चर्चा अमूर्तन की माँग करती है। मूर्त रूप में तो ‘आधुनिकताओं' की ही चर्चा हो सकती है। आधुनिकता जब अलग-अलग संस्कृतियों-सभ्यताओं में प्रकट होती है तब अनेक आधुनिकताओं के रूप में दिखाई पडती है। आधुनिकता निर्गुण रूप है जबकि आधुनिकताएँ सगुण हैं। पहली सग्रण आधुनिकता यूरोप में अस्तित्व में आई। कई शक्तियों के टकराव इतिहास की अनेक धाराओं की अन्तर्क्रिया, अनेक सभ्याताओं से वैचरिक लेन-देन, नये वगों के उद्भभव, पुराने वर्गो से उनके संषर्घ, शताब्दियों से दमित बौद्धिक-सांस्कृतिक ऊर्जा के विस्फोट और इतिहास की अनेक आकस्मिकताओं के

21

संयुक्त प्रभाव में यूरोपीय आधुनिकता का जन्म हुआ, जिसे आज पाश्चात्य आधुनिकता सभ्यता के रूप में जाना जाना है। इसके पहले अमूर्त आधुनिकता की चर्चा असम्भव थी, क्योंकि तब आधुनिकता का अस्तित्व ही नहीं था। बाद की किसी भी आधुनिकता के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। सभी के पहले यूरोपीय आधुनिकता थी। इस मूर्त आधुनिकता से अमूर्त आधुनिकता आसवित की जा सकती थी, उसके ऐसे गुणों को चिन्हित किया जा सकता था जो प्रकट तो यूरोप की जमीन पर हुए थे, मगर उस जमीन की विशिष्टताओं से स्वतन्त्र थे। पहला प्रकटीकरण होने के कारण, या रहस्यवादी भाषा से बचना चाहें तो कहें कि पहली बार निर्मित-संरचित किये जाने के कारण, यूरोपीय आधुनिकता का जन्म बाद की सभी आधुनिकताओं से भिन्न था। इसके लिए यूरोप को प्रसव कि लम्बी पीड़ा झेलनी पड़ी और भारी कीमत चुकानी पड़ी। पहले का कोई उदाहरण नहीं था। इसके लिऐ यूरोप को प्रसव की लम्बी पीड़ा झेलनी पड़ी और भारी कीमत चुकानी पड़ी। पहले का कोई उदाहरण नहीं था, कोई सन्दर्भ बिन्दु नहीं था, आधुनिकता की स्वाभाविक गति का कोई अन्दाजा नहीं था। लेकिन जितनी कीमत चुकानी पड़ी उससे बहुत ज्यादा लाभ यूरोप को मिला है। पहले तो विज्ञान और आधुनिक दर्शन के उद्रभव और पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली तथा बुर्जुआ राजनीति-संस्कृति के जन्म में बौद्धिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक ऊर्जा का जो महाविस्फोट हुआ उसका लाभ मिला। बाद में समूची दुनिया में पूँजीवाद के विस्तार और औपनिवेशिक तथा उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों में दुनिया के अधिकांश देशों के अधीनीकरण की प्रक्रिया में यूरोप ने या अधिक सटीक रुप में कहें तो पश्चिम ने सारी दुनिया से कीमत वसूली है। कुल मिलाकर आधुनिकता का पहली बार वहाँ प्रकट होना पश्चिम के लिए भारी फायदे का सौदा रहा है।

आधुनिकता का आगमन सबसे पहले यूरोप में ही क्यों हुआ, इसकी सटीक व्याख्या अभी तक सम्भव नहीं हो सकी है और आगे भी इसका सीधा उत्तर मिलने की गुंजाइश कम ही है। पूँजीवाद के उद्भभव के बारे में भी ऐसे ही प्रश्न हैं जिनके उत्तर ढूँढने के प्रयास होते रहे हैं। 'प्रोटेस्टेण्ट एथिक' में पूँजीवाद के जन्म के कारण देखने वाली मैक्स वेबर की व्याख्या विश्वप्रसिद्ध तो है लेकिन सन्तोषजनक कम लोगों को ही लगेगी। आश्चर्य यह है कि आधुनिकता मध्यकालीन यूरोप में जन्मी। अनेक सभ्यताएँ उसी काल में यूरोप की तुलना में अधिक उन्नत थी। मिंग चीन, तोकुगावा जापान और मुग़ल हिन्दोस्तान के बारे में तो यह बात निश्चित सही थी। आधुनिकता का यूरोप सम्भवत: इतिहास की ऐसी पहेलियों में से है जिनके बारे में छानबीन और अन्दाज लगाने का काम तो हमेशा चलता रहेगा लेकिन पूरा समाधान शायद ही मिल पाये।

हम 'क्यों हुआ' के विषय पर जाने की बजाय 'क्या हुआ' और 'कैसे हुआ' से कछ मोटे नतीजे उद्धत करेंगे। यह भी कोई छोटा-मोटा विषय नहीं है, बल्कि दुनियाभर के विद्वानों के लिए लगातार खोजबीन और सोच विचार का मुद्दा है। यहाँ कुछ प्रमुख विशिष्टताओं की गिनती भी की जा सकती है।

सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आधुनिकता और पूँजीवाद एक साथ पैदा हुए। या यूँ कहें कि आर्थिक-राजनैतिक-सामाजिक व्यवस्था के रूप में जो पहली आधुनिकता अस्तित्व में आयी वह पूँजीवादी आधुनिकता थी। यूँ तो सामन्ती और मध्ययुगीन यूरोप के लिए पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली और बुर्जुआ लोकतन्त्र वाली राजनैतिक व्यवस्था (हालाँकि लोकतन्त्र की जड़ें यूरोप के अधिकांश देशों में बीसवीं सदी के पहले गहरी नहीं हो पायीं) ही मुक्ति लगने के लिए काफी थी। आधुनिकता के अन्य गुण, जो पूँजीवाद के लिए अनिवार्य नहीं थे और जिन्हें अपनाये बिना भी पूँजीवाद दुनिया के अधिकांश देशों में बखूबी चलता है, यूरोप को और तेज तरक्की के रास्ते पर डालने वाले थे और वहाँ एक नयी सभ्यता का सूत्रपात

22

करने वाले थे।

पूँजीवादी यूरोप को और कुल मिलाकर पूँजीवाद को आधुनिकता के साथ जन्मजात सम्बद्ध होने का बेतहाशा फायदा हुआ है। आधुनिकता के अनेक गुण पूँजीवाद के ही गुण समझे जाते हैं, जबकि हकीकत यह है कि स्थापित पूँजीवाद के लिए ऐसे गुण प्राय: असुविधाजनक हैं। 'स्वाधीनता, समता, भाईचारा' का नारा देने वाली फ्रांसीसी क्रान्ति सबकी मुक्ति के वायदे लेकर आई थी जिसकी आड़ में पूँजीवाद शोषण और पूँजीवाद वर्ग के शासन अपना असली रूप छिपाने में या उसके लोक स्वीकार्य पक्ष को ही सामने रखने में सफल रहे हैं।

दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आधुनिकता का यूरोपीय संस्करण आधुनिक विज्ञान और दर्शन के साथ अस्तित्व में आया। एक पूरी सभ्यता में बौद्धिक-सांस्कृतिक ऊर्जा का जैसा विस्फोट हुआ वह अभूतपूर्व था। प्रबोधन-काल उद्दाम आशावाद का समय था। प्रकृति को वंश में कर लेने की महत्वाकांक्षाएँ थी, समाज को तार्किक और उपयोगी ढंग से संगठित-संचालित करने की योजनाएं भी, जीवन को उत्तरोत्तर बेहतर बनाते जाने के कार्यक्रम थे। ऐसा माहौल न तो पहले कभी देखा गया था, न ही बाद में कभी पैदा हुआ। पूँजीवाद को इसका भी लाभ मिला है।

तीसरा महत्वपूर्ण तथ्य औधोगिक क्रान्ति का था जो आधुनिक विज्ञान और पूँजीवादी व्यवस्था के संयुक्त तत्वाधान में सम्पन्न हुई। भौतिक समृद्धि के क्षेत्र में यह परिवर्तन अभूतपूर्व था। यूरोप बाद में उत्तरी अमेरिका और उसके भी बाद में जापान ने औधोगीकरण की लहरों पर सवारी करके विकसित पूँजीवाद, व्यापक समृद्धि और उच्च जीवन स्तर तक की यात्राएँ की हैं।

ऐसे तथ्यों के संयुक्त परिणाम गिने जा सकते हैं। पहला, पाश्चात्य आधुनिकता को ही आधुनिकता का प्रामाणिक रूप माना जाता है। दूसरा, पूँजीवादी आधुनिकता ही एकमात्र सम्भव आधुनिकता समझी जाती है। तीसरा, पूँजीवाद को ही वैज्ञानिक और औधोगिक क्रान्ति का पूरा लाभ मिला है। चौथा, पूर्व-आधुनिक निरंकुशता से व्यक्तिगत और लोकतन्त्र में संक्रमण का सेहरा भी पूँजीवाद के सिर ही बँधा है।

इस सबके चलते दुनिया पर पश्चिम का प्रभुत्व बना है और पूँजीवाद के विरूद्ध क्रान्तियाँ अधिक चुनौतीपूर्ण साबित हुई हैं। मध्यकालीन सामन्ती व्यवस्थाएँ सीमित उत्पादन, अभाव, अर्द्धगुलामी और निरंकुशता की व्यवस्थाएँ थीं जिनके विरूद्ध लोगों को संगठित करना तुलनात्मक रुप में आसान था। पश्चिम पूँजीवाद को वैज्ञानिक क्रान्ति और प्रबोधन काल में बौद्धिक जागरण का अभिभावक होने का फायदा ऊपर से मिला है। जिन देशों में बाद में समाजवादी क्रान्तियाँ हुई या जहाँ उपनिवेशवाद के विरूद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन चले वहाँ उत्पादन प्रणाली को या राजनैतिक व्यवस्था को बदल देने वाली ऊर्जा का विस्फोट तो हुआ। निश्चय ही इन परिवर्तनों ने दुनिया की शक्ल एक बार फिर बदल दी। लेकिन इन क्रान्तियों की ऊर्जा फिर भी उस ऊर्जा की बराबरी नहीं कर सकी जो आधुनिकता के आगमन के समय यूरोप में पैदा हुई थी। वह केवल पूँजीवाद क्रान्ति की ऊर्जा नहीं थी बल्कि उस युग-परिवर्तन की ऊर्जा थी जिसके फलस्वरूप मानव जाति ने आधुनिक युग में प्रवेश किया। उसके बाद भी सभी क्रान्तियाँ आधुनिकता के अधीन ही हुईं और आगे की क्रान्तियाँ भी इस युग के अधीन ही सम्पन्न होंगी।

बीसवीं शताब्दी के समाजवादी समाज आधुनिकता के नये और कई मायनों में उन्नत संस्करण थे।

23

मार्क्सवाद ने पूँजीवाद की वैज्ञानिक और बेबाक आलोचना की और यह सिद्ध किया कि पूँजीवाद मानव इतिहास की अन्तिम उत्पादन प्रणाली नहीं है। पूँजीवाद से आगे की राह दिखाने के चलते समाजवाद आधुनिकता का अधिक उन्नत संस्करण था। इसे इस तरह से भी समझा जा सकता है कि पूँजीवाद समाज अपनी सारी उत्पादनशीलता एवं समृद्धि के बावजूद एक वर्ग-विभाजित और शोषण-रहित समाज की ओर बढ़ने की राह दिखलाता था। इस अर्थ में समाजवादी पूँजीवादी क्रान्ति की तुलना में अधिक युगान्तरकारी महत्व की होनी चाहिए।

लेकिन इतिहास की गति जैसे चली उसमें बीसवीं शताब्दी की समाजवादी क्रान्तियों की कुछ सीमाएँ सामने आयीं। इस जटिल एवं विवादास्पद विस्तार में जाने की यह जगह नहीं है। मौजूदा प्रसंग आधुनिकता का है। इसी से सन्दर्भित सीमा का उल्लेख यहाँ काफी रहेगा।

बीसवीं शताब्दी की सभी समाजवादी क्रान्तियाँ ऐसे देशों मे हुई जहाँ के समाज पूर्व-आधुनिक समाज थे। अनेक कारणों से इनके इतिहास की गति यूरोप से भिन्न थी। पूँजीवाद इन संकटों के समाधान में सक्षम नहीं था, या यूँ कहें कि इन्हें संकटों से खींच निकालने के लिए आवश्यक क्रान्तिकारी ऊर्जा उसके पास नहीं थी। ऐसी परिस्थितियों में समाजवाद के क्रान्तिकारी विचार और आन्दोलन को, जिन्हें पूँजीवाद से आगे की आधुनिकता को हकीकत बनाना था, पूर्व-आधुनिक से निपटने में जुटना पड़ा। उनकी सफलता इस बात में थी कि इस कठिनाई और बाधाग्रस्तता के बावजूद वे पूँजीवाद के लिए चुनौती बने रहे। लेकिन इन समाजवादी व्यवस्थाओं का पूर्व-आधुनिक शरीर इनके लिए अनेक व्याधियों का घर साबित हुआ और अन्तत: इनकी असफलता का मुख्य कारण बना। एक आधुनिक पूँजीवादी समाज में समाजवाद की स्थापना का कोई उदाहरण इतिहास में दिखाई नहीं देता और इस अर्थ में पूरी तरह आधुनिक समाजवाद अभी भी भविष्य के गर्भ में है। ऐसे समाजवाद का निर्माण या तो विकसित पूँजीवादी समाज में हो सकता है या पूर्व-आधुनिक समाजवाद के इतने लम्बे समय तक सही दिशा में चलते रहने पर हो सकता है जिससे कि वह आधुनिक समाजवाद का रूप ग्रहण कर ले। एक बात तय है कि पूरी तरह आधुनिक समाजवाद ही स्थायी सिद्ध होगा और अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल होगा।

7

तीसरी दुनिया के देशों की उत्तर-औपनिवेशिक आधुनिकताएँ उस तीसरी वर्गीकरण में आती हैं जिसमें आधुनिकता ने इन देशों में सगुण रूप धरा है। ये आधुनिकताएँ सबसे अधिक व्याधिग्रस्त हैं। अधिकतर उदाहरणों में ये आधुनिक कम ही लगती हैं। बीसवीं सदी की समाजवादी आधुनिकताओं के शरीर ही पूर्व-आधुनिक थे उनकी आत्माएँ पूरी तरह आधुनिक थीं। उत्तर-औपनिवेशिक आधुनिकताओं के शरीर तो पूर्व-आधुनिक हैं हीं, इनकी आत्माएँ भी पूरी तरह आधुनिक नहीं हैं। यहाँ आधुनिकता तक पहुँचने का सफर और भी लम्बा है।

फिर हम इन्हें आधुनिकता की श्रेणी में रखते क्यों हैं? ये सभी समाज संक्रमण के दौर में हैं। यह संक्रमण आधुनिकता की ओर उन्मुख हैं और उसी के द्वारा संचालित हैं। इस संक्रमण का पिछला दौर पेचीदा रहा है। और इसकी आगे की गति के भी जटिलताओं से उलझते हुए ही आगे बढ़ने की सम्भावना है। भारत का उदाहरण लें तो यहाँ आधुनिकता का प्रथम आगमन उपनिवेशवाद के साथ होता है। पूँजीवादी यूरोप ने उपनिवेशवाद का इस्तेमाल पूरब के देशों पर आधिपत्य जमाने के लिए किया ताकि उन्हें पश्चिमी पूँजी के विस्तार का उपकरण बनाया जा सके। इस तरह उपनिवेशवाद जो स्वयं आधुनिक मूल्यों का निषेध था, पूँजीवादी आधुनिकता के हित में जोत लिया गया। भारत जैसे उपनिवेशों पर इस प्रक्रिया का असर

24

भी परस्पर विरोधी चरित्र वाला था। उपनिवेशवादियों के साथ सीमित अथों में ही सही आधुनिकता का भारत में प्रवेश हुआ। बाद में जब राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की शुरूआत हुई तो सार्वभौम राष्ट्र राज्य की आधुनिक अवधारणा इस आन्दोलन का प्रमुख संगठक विचार बनी। लेकिन इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारतीय जनता को जिन नारों और जिन मूल्यों के आधार पर संगठित किया गया उनका अच्छा-खासा हिस्सा पूर्व-आधुनिक था। नेहरू की अम्बेडकर की या कम्युनिस्टों की आधुनिकता की तुलना में गाँधी की पूर्व-आधुनिकता भारतीय समाज को अधिक स्वीकार्य थी। भारतीय ‘राष्ट्र' की अवधारणा के आधुनिक होने के बावजूद इसकी बुनावट में पूर्व-आधुनिकता का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

राजनैतिक व्यवस्था और सामाजिक सांस्कृतिक संरचना के इस उलझे हुए चरित्र के साथ-साथ पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का भारतीय रूप भी जटिलताओं से भरा हुआ है। पूर्व-पूँजीवादी संरचनाओं को क्रान्तिकारी ढ़ग से तोड़ने की बजाय पूँजीवाद ने उनके साथ तालमेल का और मद्धम गति से उनके रूपान्तरण का तरीका अपनाया है। इससे पूर्व-आधुनिक तत्वों और संरचनाओं को सामाजिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में बने रहने की सहूलियत मिली है।

आधी-अधूरी यात्राएँ प्राय: भरपूर नुकसान का कारण बनती हैं। लक्ष्य तक तो वे पहुँचाती नहीं, लक्ष्य तक पहुँचाने की इच्छा को जरूर कम?जोर कर देती हैं। पूर्व-आधुनिक, सामन्ती और औपनिवेशिक भारत में क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए जो दबाव था वह स्वतन्त्र, पुँजीवादी और आधे आधुनिक, आधे पूर्व-आधुनिक भारत में कुछ ढीला जरूर पड़ गया है। इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि पुराना भारत आज के भारत से अच्छा था, क्योंकि उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन की सम्भावनाएँ अधिक थीं। लोगों का जीवन-स्तर और उनकी जिन्दगी के आम हालात यहाँ हमारी चर्चा का विषय नहीं है। हम यहाँ आधुनिकता की ओर भारतीय समाज की यात्रा का विश्लेषण कर रहे हैं। लोकतन्त्र चाहे जितने भी सीमित अथों में अस्तित्व में आये, जनवाद के नारे की क्रान्तिकारी विस्फोटकता में कुछ नमी जरूर पैदा कर देता है। पुँजीवाद चाहे जितने भी कमजोर और बीमार रूप में अस्तित्व में आये, सामन्ती उत्पादन प्रणाली की तुलना में विकास की अधिक सम्भावनाएँ लिए होता है। आधुनिकता की ओर निर्णायक ढंग से बढ़ने के लिए भारतीय समाज में आक्श्यक ऊर्जा का संचार आज एक ऐतिहासिक चुनौती है जिसे स्वीकार करने के लिए कम से कम तीन रणनीतिक महत्व की बातों पर ध्यान देना जरूरी है।

उत्पादन प्रणाली के बदल दिये जाने का प्रश्न भारतीय आधुनिकता के भविष्य के लिए केन्द्रीय प्रश्न है। समाजवादी रास्ते से ही आधुनिकता की आगे की यात्रा की जा सकती है और इस रासते पर ही भारतीय लोक की ऊर्जा को बन्धनमुक्त किया जा सकता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना के रूपान्तरण का प्रश्न भी उत्पादन-प्रणाली के प्रश्न जितना ही महत्वपूर्ण है। दरअसल दोनों प्रश्न एक दूसरे से गुँथे हुए हैं। विशेषकर जाति और जेण्डर के प्रश्न केन्द्रीय महत्व के हैं जो भारत में एक सभ्यतात्मक अन्तरण (civilisatonal shift) की माँग करते हैं।

तीसरे, बौद्धिक-सांस्कृतिक ऊर्जा का विस्फोट भारतीय आधुनिकता की आगे की यात्रा के लिए अनिवार्य है। हम नये सिरे से विज्ञान तो नहीं गढ़ सकते, न ही सर्वथा नये दर्शन और विचारधारा का सूत्रपात कर सकते हैं। लेकिन विज्ञान, दर्शन विचारधारा और आधुनिक संस्कृति को युगों से वंचित वर्गों, जातियों और समुदायों तक ले जाने के कारगर उपाय इस समाज में अपार ऊर्जा का संचार कर सकते हैं।

25

# विमर्श : आधुनिकता

## प्रस्तावना

आधुनिकता के दार्शनिक विमर्श को कुछ चुनिन्दा लेखों के जरिये पूरी तरह, या सन्तोष होने लायक अच्छी तरह, नहीं पेश किया जा सकता। भले ही वे लेख कांट, फूको और हेबरमास के द्वारा ही क्यों न लिखे गये हों। लेकिन शुरू तो हर चीज को कहीं न कहीं से करना ही पड़ता है। इस अंक में इस विमर्श की शुरूआत की जा रही है। और इस शुरूआत के लिये ‘प्रबोधन की परियोजना' का विषय चुना गया है जिसके केन्द्र में तर्कबुद्धि, प्रगति तथा मानवीय स्वायत्तता एवं जिम्मेदारी के प्रश्न मौजूद रहे हैं।

इस चुनाव के कुछ कारण हैं। और इसकी अनेक सीमाएँ हैं।

अगर आधुनिकता को चिन्हित करने के लिये पहली कूँची चलानी हो तो उसे पूर्व-आधुनिकता से अलग करने के लिहाज से चलाना होगा। इमैनुअल कांट के 1784 के लेख "प्रबोधन क्या है?" की विशेषता है कि वह दर्शन के टीले पर खड़े होकर समय के क्षितिज की ओर शून्य में नहीं देखता, बल्कि अपने युग के इलाके का सर्वेक्षण करता है और उस इलाके से फ़र्क देखता है जिसे वह पीछे छोड़ आया है। सबसे बड़ा फ़र्क काट को यह दिखाई देता है कि यह वयस्कों का इलाका है। हर प्रकार की आधिभौतिक शक्ति के अभिभावकत्व से बाहर निकल आये लोगों का इलाका है। यहाँ उन्हें अपनी तर्कबुद्धि के सहारे चलना है। और वे जो कुछ भी करेंगे उसके लिये खुद जिम्मेदार होंगे।

जैसे कि प्राय: होता है, कुछ ऊँचे चढ़कर देखाने पर दूर का इलाका तो ठीक दिखाई देता है लेकिन अपने नीचे की जमीन छिप जाती है। काट की सीमाएँ स्पष्ट है। तर्कबुद्धि पर निर्भरता पूर्व-आधुनिकता और आधुनिकता के बीच का प्रमुख विभाजक गुण है - इसे तो वे ठीक रेखाकित करते है। लेकिन तर्कबुद्धि की खुद की बनावट उनकी पैनी नज़र से छूट जाती है। बल्कि वे स्वयं तर्कबुद्धि पर कुछ ख़ास किस्म के बन्धन लगाते प्रतीत होते हैं। उन्हें ‘प्रबुद्ध' राजा फ्रेडरिक पर भरोसा है कि विज्ञान और कला के मामलों में अपनी प्रजा का अभिभावक बनने में उसकी कोई रूचि नहीं है। उन्हें फ्रेडरिक की सेनाओं के कारण इत्मीनान है। वे तर्कबुद्धि का एक "निजी क्षेत्र" इस तरह प्रतिपादित करते

26

हैं जिसमें उनकी खुद की ’प्रौढ़ता' दिखाई पड़ती है। बड़ी मशीन के पुरजे के रुप में मनुष्य तर्कबुद्धि का ऐसा इस्तेमाल कर सकता है कि वह पुर्जा भी बना रहे और वयस्क भी। यहाँ तक कि पादरी अपने पेशे के मुताबिक धर्म की शिक्षा दे सकता है और बुद्धिजीवी के रुप में धर्म की आलोचना कर सकता है। काट यह जानते हैं कि उनका युग "प्रबोधन का युग” है, न की "प्रबुद्ध लोगों का युग”। प्रबुद्ध तो अभी थोड़े ही हैं। अफ़रा-तफ़री का, अव्यवस्था का डर है। डर है कि लोग खुदा की कब्र पर बेकाबू नाच न करने लगें। काट चाहते हैं कि खुदा को दफ्न करने के बाद लोग तरतीब और सलीके से घर लौटें और तरतीब और सलीके से रहें। कुछ अपनी तर्कबुद्धि के मुताबिक और कुछ फ्रेडरिक के कहे मुताबिक।

कांट के बाद दो सौ वर्षों की छलाँग लगायी गयी है। मिशेल फूको का "प्रबोधन क्या है?” 1984 में उनकी मृत्यु के कुछ ही पहले लिखा गया था। कांट से सीधे फूको पर आने का अर्थ यह नहीं है कि बीच में कुछ महत्वपूर्ण हुआ ही नहीं, या यह भी नहीं है कि कांट के बाद फूको ही सबसे महत्वपूर्ण हैं। इस चुनाव के पीछे कुछ सैद्धान्तिक कारण हैं और कुछ व्यावहारिक। एक सैद्धान्तिक कारण यह है कि कांट और फूको एक अक्ष के दो छोर पर खड़े हैं। यह अक्ष है तर्कबुद्धि का अक्ष। आधुनिकता, दरअसल, एक बहु-आयामी संरचना है। इसकी पुरी तस्बीर उतारने के लिये अनेक अक्षों के समानानतर नाप-जोख की जरूरत पड़ेगी। पहला अक्ष हमने तर्कबुद्धि का चुना है। यह अक्ष फूको से आगे चिन्तन-विरोधियों की उत्तर-आधुनिक कौम तक भी जाता है जो इस अक्ष को मिटा देना चाहते हैं। लेकिन ‘वयस्कों' के सोच-विचार के लिये काट और फूको के बीच की जगह काफ़ी है।

इस चुनाव का व्यावहारिक पक्ष यह है कि फूको का लेख कांट के लेख के दार्शनिक महत्व पर अच्छी रोशनी डालता है और ऐसा वह काट से मूलभूत मतभेद के बावजूद करता है। दिक्कत यह है कि फूको काट की बात तो अपेक्षाकृत सरल ढ़ग से रखते हैं लेकिन अपनी बात बहुत मुश्किल तरीके से कहते हैं। कम से कम आम पढ़े लिखे व्यक्तिगत के लिये। हमने यह हिसाब-किताब करने से परहेज किया है कि बात का वज़न तौलने के लिये दूसरे पलड़े में सरलता रखनी चाहिये या दुरूहता। हमने कांट और फूको दोनों को बोलने दिया है। लेकिन इसकी कीमत दो और लेख छापकर चुकानी पड़ी है। एक लेख हेबरमास का है और दुसरा द्रेफ्यू तथा रैबिनो का। इसकी अपनी दिक्कतें रही हैं।

एक दिक्कत तो है कि हेबरमास के साथ ज्यादती हुई है। उनका संक्षिप्त लेख फूको को दी बयी श्रद्धांजलि है जिसमें बेवाक बहस की गुजाइश नहीं रही होगी। हालाँकि हेबरमास ने फूको की दार्शनिक पहुँच में विधमान असगति पर हल्की सी रोशनी डालने से परहेज नहीं किया है। हेबरमास आधुनिकता और तर्कबुद्धि के प्रबल प्रतिरक्षक हैं, हालाँकि वे प्रबोधन-कालीन तर्कबुद्धि की अति-महत्वाकाक्षा के आलोचक भी हैं। बीसवीं शताब्दी के कद्दावर विम्तकों में उनका शुमार है और चार दशकों के अथक बौद्धिक परिश्रम से उन्होंने ‘सम्प्रेषकीय तर्कबुद्धि” पर आधारित अपने विशद दार्शनिक-समाजशास्त्रीय प्रबन्ध की रचना की है। उनके साथ ज्यादती यही नहीं हुई है कि उन्हें फूको के संक्षिप्त टिप्पणीकार के रूप में पेश किया गया है। द्रेफ्यू और रैबिनो का लेख अंशत: फूको की हेबरमास से रक्षा करता हुआ प्रतीत होता है और उनकी प्रतिरक्षात्मक रणनीति यह रही है कि हेबरमास के प्रबन्ध में छिद्र ढूँढ़े जायें। जबकि हेबरमास को अपना प्रबन्ध प्रस्तुत करने का मौका नहीं दिया गया है।

इस सबसे दिक्कत यह भी पैदा हुई है कि पूरा चुनाव कुछ हद तक फूको-केन्द्रिक हो गया है, जबकि होना उसे तर्कबुद्धि-केन्द्रिक चाहिये था। स्वयं फूको के लेख का स्वरूप भी इसमें सहायक सिद्ध हुआ है।

27

फूकॉल्डियन "स्व की आलोचनात्मक सत्ता मीमांसा" (critical ontology of the self) का प्रस्तुतीकरण जिस प्रकार मानसिक स्वस्थता-अस्वस्थता, बीमारी और उपचार, अपराध और कानून और लिंग-सम्बन्धों की समस्याओं को केन्द्रीय विमर्शों का दर्जा देता दिखाई देता है उससे प्रतीत यह होता है कि फूको के ज़िन्दगी भर के काम की सिनॉप्सिस दी जा रही हो। हम स्पष्ट कर दें कि यह फूको-केन्द्रिकता आभासी है और इसके पीछे किसी प्रकार का फूको-प्रेम नहीं है। यह एक जटिल दार्शनिक विषय को चुने हुए संक्षिप्त लेखों में प्रस्तुत करने का बाई-प्राडक्ट है। किसी और चुनाव में कोई और दिक्कत पैदा हुई होती। कांट से फूको की शिकायत है कि वे मानव-कर्त्तृत्व को आधिभौतिकी से तो मुक्ति दिलाते हैं, लेकिन उसे ज्ञान-मीमांसा में कैद कर देते हैं। तर्कबुद्धि ज्ञान-मीमांसा के आँबन में दौड़ती खेलती है और जिस कर्त्ता के घर में वह आँगन है उससे स्वतंन्त्र दिखती है। कर्त्ता (ज्ञाता) की बनावट से स्वतन्त्र। इसलिये वस्तुपूरक दिखती है। फूको को इस पर सन्देह है। वे ज्ञान की संरचना की तहों में घुसना चाहते हैं। सभी जानते हैं कि फूको खुदायी का काम पसन्द करते हैं और जड़ों में विश्वास किये बिना जड़ों तक पहुँचना चाहते हैं। हर विमर्श का वंशक्रम तैयार करना उनका लक्ष्य है। ज्ञान की खुदायी में वे पाते हैं कि ज्ञान की बनावट में कर्त्ता (ज्ञाता) संलग्न है। फिर कर्त्ता की खुदायी होती है और पाया ये जाता है कि उसकी बनावट में ज्ञान (तब तक निर्मित ज्ञान) संलग्न है। कर्त्ता और ज्ञान दोनों रची हुई चीज़ें हैं। दोनों का आधार खोद देने के बाद कर्त्ता और वस्तु के बीच का विभाजन युक्तिसंगत नहीं रह जाता और इस विभाजन के बिना ज्ञात-मीमांसा का अस्तित्व असम्भव है। कांट ने नैतिक मूल्यों की आधिभौतिक आधारशिला खोद दी थी, फूको उनकी ज्ञान-मीमासात्मक आधारशिला खोद देते हैं। रचित रचना के रूप में धर्म की बखिया उधेड़ी जा सकती? काट नैतिक मूल्यों को धार्मिक जड़सूत्रों के आधार से मुक्त कर रहे थे तो फूको उन्हें ज्ञान-विज्ञान के आधार से मुक्त करना चाहते हैं। दिक्कत ये पैदा होती है कि नैतिक मूल्यों का कोई और वैकल्पिक आधार दिखलायी नहीं पड़ता। लेकिन चिन्तन-विरोधी उत्तर - आधुनिकों की तरह पूर्ण सापेक्षतावादी नहीं हैं। वे यह मानते हैं कि मानव होने के कुछ रूप विरोध करने लायक हैं और कुछ अन्य रूप स्थायी बनाने लायक हैं। मगर, हेबरमास पूछते हैं, यह निर्णय फूको किस आधार पर लेते हैं?

कांट को तर्कबुद्धि के बल पर मनुष्य के वयस्क हो जाने का भरोसा था। तर्कबुद्धि की जड़ खोद देने के बाद फूको को शुबहा है कि हम कभी भी वयस्क हो पायेंगे। स्व की जिस आलोचनात्मक सत्ता-मीमांसा का वे प्रतिपादन करने हैं उसे वे किसी सिद्धान्त या लगातार बढ़ते ज्ञान के रूप में देखने की बजाय एक दार्शनिक भंगिमा के रूप में देखते हैं। इस भंगिमा में समाज के सबसे अहम और नाजुक मसलों के लिये भी एक उदासीन मुस्कान भर है। यह भंगिमा किंचित व्यंग्य, किंचित विडम्बना, किंचित जिज्ञासा और गहरी उदासीनता की भंगिमा है। अगर कोई सक्रिय योजना है तो वह है स्व की सत्ता के सीमान्त प्रदेशों में जाकर उसके साथ प्रयोग करना और यह देखना कि किन सीमाओं का अतिक्रमण किया जा सकता है।

तर्कबुद्धि के सहारे मानवीय कर्त्तृत्व की स्वायत्तता की तथा तर्कबुद्धि की सीमाएँ पहचान कर मानव को वयस्क बनाने की प्रबोधन-कालीन महत्वाकांक्षाएँ यदि इस उदासीन, एकाकी जगह पर पहुँचती प्रतीत होती हैं तो उसका कारण है। कारण यह है कि यह समूची यात्रा तर्कबुद्धि के दार्शनिक अक्ष की सीध में की गयी है और इस सरलरेखीय यात्रा में भी दो सौ वर्षों की छलाँग गयी है। इस अक्ष पर या तो

28

सार्वभौमिक, वस्तुगत तर्कबुतद्धि है या व्यक्तिरूप कर्त्ता। लेकिन बीच के दो सौ वर्षों के दौरान प्रबोधन-कालीन तर्कबुतद्धि की और उससे संचालित आधुनिकता की परियोजनाओं की अन्य आलोचनाएँ और समीक्षाएँ भी हुई हैं। और इनसे अलग किस्म की परियोजनाएँ निकली हैं। इनमें तर्कबुतद्धि और व्यक्तिरूप कर्त्ता की परस्पर संलग्नता ही संरचना में अनेक तहों, उपसंरचनाओं को पहचाना गया है। उत्पादन प्रणाली, राजनैतिक व्यवस्था और सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना के परस्पर सम्बन्धों के बीच, निरन्तर गतिशील क्रियाओं-प्रक्रियाओं के दौरान, एक छोर पर युगीन तर्कबुतद्धि की रचना का उपक्रम है तो दूसरे छोर पर उसी युग के व्यक्तिरूप कर्त्ता के निर्माण की परियोजना है। यह एक लम्बा-चौड़ा इलाका है। यह मार्क्स का इलाका है। इस इलाके में आप एक सरल रेखा पर यात्रा नहीं कर सकते। तर्कबुद्धि के अक्ष शुरु करते हैं तो उसकी वर्गीय हितबद्धता के कारण वर्गों और आर्थिक संरचनाओं के अक्ष पर पहुँच जाते हैं। उस अक्ष पर चलते हैं तो राजनीति के अक्ष पर पहुँच जाते हैं। और इसी तरह यह यात्रा सरल रेखा पर चलकर क्षेत्रफल नहीं मापा जा सकता।

आधुनिकता के दार्शनिक विमर्श की इस शुरुआती कड़ी में मार्क्स का इलाका छूटा हुआ है। खाली जगह की तरह दिखाई पड़ता है। ऐसा हमने जान बूझकर किया है। इस खाली दिखती जगह में बहुत दिलचस्प आकृतियाँ और बनावटें हैं। इनमें जाये बगैर आधुनिकता के युग का मानचित्र नहीं बनाया जा सकता। और इस मानचित्र में भी दर्शन के टीले हैं। इन टीलों पर चढ़कर भी चारों तरफ का इलाका देखना है। वरना विचारों के मैदान में घेर लिचे जाने का ख़तरा है। यह भी एक लड़ाई है। या बड़ी लड़ाई का एक मोर्चा है।

29

# प्रबोधन क्या है?

इम्मानुएल कांट

प्रबोधन (एनलाइटेनमेंट) का अर्थ है मनुष्य का स्वयं प्राप्त अपरिक्वता (अवयस्कता) से उबर जाना। अपरिपक्वता का अर्थ है बिना किसी दूसरे के निर्देश के स्वयं अपनी समझ के उपयोग में अक्षमता। यह अपरिपक्वता स्वयं-प्राप्त तब कही जाएगी जब इसका कारण समझ की कमी नहीं बल्कि किसी दूस?रे के निर्देश के बिना उपयोग के साहस और निश्चय की कमी हो। Saperre Aude ! साहस रखो - अपनी समझ के उपयोग का साहस रखो - यही है प्रबोधन का आदर्श वाक्य।

आलसय और कायरता के ही कारण प्रकृति द्धारा के निर्देशों से मुक्त किए जाने के बावजूद मानवता का बहुलांश जीवन भर नाबालिग (अपरिपक्व) बना रहता है और दूसरों के लिए उनका अभिभवक बन जाना इतना आसान हो जाता है। नाबालिग बने रहने में कितना आराम है। अगर मेरे पास कोई किताब है जो मेरी समझ का विकल्प बन सकती है, कोई आध्यात्मिक सलाहकार है जो मेरी अन्तरात्मा बन सकता है, कोई डाक्टर है जो मेरे खान-पान का फैसला करता है वगैरह, तो फिर क्या जरुरत है मुझे मुसीबत मोल लेने की ? मुझे सोचने की कोई जरुरत नहीं, बस मेरे पास पैसा चाहिये, लोग हैं, जो मेरे काम निपटा देगें। समस्त नारी समुदाय सहित मानवता का सबसे बड़ा हिस्सा परिपक्वता की ओर बढ़े तो ऐसी मेहरबानी उनकी परवरिश की

30

जिम्मेदारी लेने वाले अभिभावकों के लिये न केवल मुसीबत खड़ी करेगी, ऐसा काफी ख़तरनाक भी होगा। उस बड़े हिस्से को गूगा, पशुवत बना देने के बाद, बड़ी सावधानीपूर्वक उन्हें बिना सहारे के एक भी कदम उठाने से रोकते हुए अभिभावक अकेले चलने के खतरों से इन्हें आगाह करते हैं। ये खतरे इतने बड़े नहीं होते क्योंकि एक-दो बार गिरकर चलना आ ही जाता है, पर गिरना कातर बनाता है और फिर प्रयास करने के विरुद्ध डर भर देता है।

इस प्रकार किसी व्यक्तित्व के लिए ऐसी अपरिपक्वता से, जो प्राय: उसकी प्रकृति बन जाती है, उबरना कठिन हो जाता है। उसे यह अच्छा भी लगने लगता है और फिलहाल वह अपनी समझ का इस्तेमाल करने में असमर्थ हो जाता है क्योंकि उसे ऐसा प्रयास करने ही नहीं दिया गया। उपदेश और सूत्र उसके प्राकृतिक वृत्ति के विवेकपूर्ण उपयोग, बल्कि दुरुपयोग, के यांत्रिक उपकरण की तरह, उसकी स्थायी अपरिपक्वता के लिए ज़ंजीर बन जाते हैं। उन्हें तोड़ फेकने वाला व्यक्तित्व संकरी खई पर अनिश्चित छलांग ही लगाता प्रतीत होगा क्योंकि उसे मुक्त गति की आदत नहीं है। इसलिए ऐसे लोग थोड़े हैं जो अपनी अन्तरात्मा के परिष्कार द्धारा इस अपरिपक्वता से मुक्त होने और आत्मविश्वासपूर्वक आगे बढ़ने में सफल हो पाते हैं।

लेकिन किसी जन समुदाय के लिये प्रबुद्ध होना अधिक संभव है। अगर उसे उसकी मुक्ति प्राप्त हो जाये तो यह एक प्रकार से अनिवार्य है। क्योंकि कुछ मुक्त चिंतक होंगे ही, सामान्य जन के स्थापित अभिभावकों के बीच भी, जो अपनी अपरिपक्वता का जुआ उतार फेंकने के बाद ऐसी बातें प्रसारित करेंगें ही कि अपनी योग्यता का विवेकपूर्ण मूल्यांकन करना चाहिए और हर व्यक्ित को अपने बारे में स्वयं सोचना चाहिए। यहाँ पर विचारणीय है कि अभिभावकों द्वरा नियंत्रित समुदाय समुचित रुप से उद्धेलित होने पर बाद में उन्हें ही अपने मातहत कर ले सकता है। इस प्रकार धीरे-धीरे जनसमुदाय प्रबुद्व हो सकता है। क्रांति किसी व्यक्ित की तानाशाही और लालाचपूर्ण निरंकुश उत्पीड़न का अत कर सकती है लेकिन किसी के सोच में सच्चा सुधार नहीं ला सकती। नए पूर्वाग्रह, पुरानों की तरहए चिंतनहीन जनता पर लगाम लगाना शुरु कर देंगे।

प्रबोधन के लिए मुक्त के अलावा और कुछ नहीं चाहिए। वास्तव में मुक्ति का वह पक्ष जो सबसे कम नुकसान पहुंचा सकता है अर्थात हर बात में अपने विवेक के सार्वजनिक प्रयोग की स्वतंत्रता। लेकिन मुझे तो हर तरफ से यही चीज सुनाई पड़ती है - बहस मत करो। अफसर कहता है बहस मत करो, बस कवायद करो। कर विभाग का अफसर कहता है बहस नहीं, कर चुकाओ। पादरी कहता है बहस नहीं, बस विश्वास करो (दुनिया में एक ही शासक है जो कहता है जितना भी या जिसके बारे में भी बहस करना हो करो लेकिन आज्ञा का पालन करो) । हर कहीं स्वतंत्रता पर बंदिशें हैं। लेकिन किस तरह की बंदिश प्रबोधन को बाधित करती है और कौन उल्टे उसे बढ़ाती है विवेक के निजी प्रयोग पर थोड़ी बंदिश प्राय: लग सकती है - बिना प्रबोधन की प्रगति को विशेष नुकसान पहुँचाये। अपने विवेक के सार्वजनिक प्रयोग से मेरा तात्पर्य है वह प्रयोग जो विद्वान करता है, पाठक समुदाय के सामने। विवेक के निजी प्रयोग से मतलब है किसी पद के निर्वाह आदि में विवेक का प्रयोग।

किसी समुदाय के लिए किये जाने वाले बहुत से कामों में एक प्रकार के तंत्र की जरुरत होती है जिसके द्वारा समुदाय के कुछ लोग केवल निष्क्रिय व्यवहार करें ताकि जनहित में (या जनहित के नाश को रोकने में) एक कलापर्ण सर्वसम्मति स्थापित हो। इस तरह, सरकार का निर्देश कार्यान्वित हो। यहां निश्चित

31

ही बहस की इजाजत नहीं हैं, आज्ञा का पालन होना चाहिए । लेकिन जहां तक तंत्र का वह हिस्सा जो अपने समुदाय का अंश समझता है, यहां तक कि मानव समाज का अंग, अपने लेखन द्वारा जन को संबोधित करने वाले विद्वान की हैसियत से बहस कर सकता है-बिना अपनी निष्क्रिय सदस्यता के कर्तव्यों को क्षति पहुंचाए। इस प्रकार अगर कोई अफसर अपने ऊपर के पदाधिकारियों की आज्ञाओं की उपयुक्तता या उपयोगिता के बारे में खुले तौर पर तर्क करना शुरू कर दें तो यह बहुत विनाशक हो जायेगा। उसे तो आक्षा पालन करना चाहिये। लेकिन किसी विद्वान को सेना की गलतियों के बारे में टिप्पणी करने और जनता के सामने उनका मूल्याकंन करने से रोका नहीं जा सकता। कोई नागरिक लगाये गये करों की अदायगी मना नहीं कर सकता। इसका विरोध (जो औरों भी भड़का सकता हैं ) दंडनीय है। लेकिन वहीं नागरिक एक विद्वान की हैसियत से सरकारी आज्ञा की अनुपयुक्तता या अन्यायपूर्णता के बारे में सार्वजनिक रूप में बात करके भी नागरिक कर्त्तव्यों का उल्लंधन नहीं करेगा। इसी तरह पादरी भी अपनी प्रश्नोत्तरी (catechism) की कक्षा में विद्यार्थियों तक अपना विमर्श पहुंचायेगा - अपने चर्च के नियमों के अनुसार, क्योकि इसी शर्त पर उसकी नियुक्ति हुई हैं लेकिन एक विद्वान की तरह वह पंथ की कमियों के बारे में अपने सुचिंतित विचार और सुझाव मुक्त भाव से रख सकता है। इसमें कुछ भी ऐसा होता नहीं है जो उसकी अन्तरात्मा पर बोझ बने। चर्च के कार्यभार के रूप में वह जो शिक्षा देता है उसमें मनोवंछित शिक्षा देने के लिये वह मुक्त नहीं है। वह कहेगा हमारा चर्च ऐसा कहता है - ये रहे तर्क। फिर वह उपदेश में से जिन पर उसे हो सकता है पूरा विश्वास न हो समूह के लिए व्यवहारिक उपभोग की सारी बातें निचोड़ लेगा क्योंकि यह पूरी तरह अंसभव नहीं कि उनमें सत्यांश छुपा हो और फिर उनमें उपस्थित आन्तरिक धर्म के विपरीत तो कुछ होगा नहीं। क्योकि अगर उसे विश्वास हो जाय कि उसके धार्मिक समूह में धर्म विरोधी बातें मौजूद हैं तो अन्तरामा के अनुरूप उसे पद पर बने रहने का कोई औचित्य नहीं है ओर उसे इस्तीफा दे देना चाहिए। इस प्रकार अपने समूह के सम्मुख उपदेशक जिस विवेक का उपयोग करे वह है निजी उपयोग। धार्मिक समूचे चाहे जितना बड़ा हो एक परिवारिक समूह ही होता है और उस संदर्भ में पादरी स्वंतत्र नहीं है और न ही हो सकता है क्योंकि वह प्रदत्त दायित्व का निर्वाह कर रहा होता है। दूसरी ओर, विद्वान की हैसियत से, अपने लेखन में वह जन के लिए, असीम स्वतंत्रता,के साथ एक व्यक्ति की तरह, अपने विवेक का भरपूर इस्तेमाल कर सकता है। इस संदर्भ में आध्यात्मिक अर्थो में जनाभिभावक अपरिपक्व ही हों ऐसा मानना अनर्गल है और यह अनर्गलता को जारी रखने के समान होगा।

तो क्या यहूदियों के सिनोड या हालैन्ड में धर्मधिकारियों के समुदाय ‘क्लासिस' के पादरियों को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वे अपने प्रत्येक अनुयायी और उसके माध्यम से जनसमुदाय पर अभिभावकत्व की निरन्तरता के लिए किसी अपरिवर्तनीय पंथ से आबद्व होने की शपथ ले लें मेरे ख्याल से यह असंभव है। और अधिक प्रबोधन को मानव जाति से हमेशा के लिए दूर रखने के लिए ऐसी कोई संविदा एकदम रद्द होगी, भले ही उसे शाही संसद या पवित्र शांति संधियों जैसी सर्वोच्च संस्थाओं की स्वीकृति प्राप्त हो। कोई काल अपने को बांध कर नहीं रख सकता, परवर्ती काल पर ऐसी शर्त थोपने का षडयंत्र नहीं कर सकता कि वह अपने बोध का (विशेषकर ऐसे आवश्यक क्षेत्र में ) विस्तार कर सके, अपनी गलतियों में सुधार न सके और व्यापक रूप से प्रबोधन में प्रगति न कर सके। यह मानव प्रकृति के विरूद्व अपराध होगा, क्योंकि उसकी मूल वृत्ति प्रगति हैं और आनेवाली पीढ़ियां ऐसे निर्णयों को अनधिकृत और आध्यात्मिक मानकर उन्हें नकारने के लिए पूरी तरह अधिकृत हैं। किसी भी जन के लिए कानून क्या

32

हो इसकी कसौटी है यह प्रश्न? क्या कोई ऐसा कानून अपने पर आरोपित कर सकता है? ऐसा एक संक्षिप्त सुनिश्चित कालखण्ड के लिए तो हो सकता है - मानो किसी बेहतर काल की प्रतीक्षा में, ताकि कुछ व्यवस्था कायम हो सके। उस दोरान हर नागरिक, विशेषकर एक पादरी, एक विद्वान की हैसियत से अपनी बात सार्वजनिक रूप से कहने के लिए स्वतंत्र होगा। इसका अर्थ होगा कि वह वर्तमान संस्था की कमियों के बारे में लिख सकेगा। इस दौरान मोजूदा व्यवस्था तब तक जारी रहेगी जब तक जनता की इन मामलों में अन्तर्दृष्टि इतनी सुनिश्चित और व्यापक न हो जाय कि वह एक स्वर मे सरकार से विनती करे कि बेहतर अन्तर्दृष्टि के कारण एक नई धार्मिक संस्था को स्वीकारने वालों को, पुरानी राह पर ही चलने वाली संस्था को बाधित किए बिना वह अपने संरक्षण में ले लें।

लेकिन किसी एक जीवनकाल के लिए भी किसी ऐसी स्थाई धार्मिक संस्था के लिए स्वीकृति अस्वीकार्य है जिस पर कोई प्रश्न ही न उठा सके ओंर इस तरह जो मानव प्रगति में लगे काल को ही नकार दे और इस प्रकार आनेवाली पीढ़ियो के लिए उसे अन्तहीन और नुकसानदेह बना दे। किसी के लिए अनिवार्य प्रबोधन का कोई व्यक्ति अपने लिए और यह भी कुछ समय के लिए टाल सकता है पर अपने ही लिए और विशेषकर भावी पीढ़ी के लिए प्रबोधन को टाल ही देना मानव के पवित्र अधिकारों का उल्लंघन है, उसे पैरों तले रौदना है।

जो निर्णय कोई जन अपने लिए नहीं ले सकता उसे किसी शासक द्वारा अपनी प्रजा के बारे में लेने का तो और भी अधिकार नहीं है क्योंकि उसके व्यवस्थपिका संबंधी अधिकारों का आधार यही है कि उसकी इच्छा में जन की सामूहिक इच्छा समन्वित है। उसे इस बात को जन पर ही छोड़ देना चाहिए कि उसे अपनी मुक्ति के लिए क्या करना है। पर हां, अगर कोई बाधा उत्पन्न कर रहा हो तो उसे रोकना शासक का सरोकार होना चाहिए। लोगों द्वारा अपनी अन्तर्दृष्टि की स्पष्टता के लिए किए जा रहे लेखन की सरकारी निगरानी को अपनी सहमति देकर वह अपनी सत्ता को ही प्रश्नेय बनाएगा क्योंकि कहावत है कि राज्य भी व्याकरण के बाहर नहीं होता, अर्थात उसे भी नियमों के अर्न्तगत ही रहना चाहिए। अगर वह अपने राज्य में कुछ लोगों की प्रजा पर तानाशाही से सहमत होता है तो वह अपनी सर्वोच्च सत्ता को और अधिक अपमानित ही करता है।

अगर पूछा जाए कि हम एक प्रबुद्व काल में जी रहे हैं तो उत्तर होगा नहीं, लेकिन निश्चित ही हम प्रबोधन काल में जी रहे हैं। आज जो स्थिति है उसमें लोगों को ऐसी स्थिति में होने या उन्हें वहाँ तक पहुंचाने के लिए और कुछ किया जाना चाहिए ताकि वे बिना किसी मदद के धार्मिक मामलों में अपनी समझ का इस्तेमाल कर सकें। ऐसे आसार हैं कि इस दिशा में लोग स्वतंत्रतापूर्वक काम कर सके इसके लिए राहें खुल रहीं है और सार्थक प्रबोधन, या यूं कहें स्वयं-प्राप्त अपरिपक्वता से मानवता के उबरने की रूकावटें कम होती जा रहीं है। इस संदर्भ में यह प्रबोधन का काल या फ्रेडरिक (जर्मनी के एकीकरण के पहले 1740-80 तक प्रशा नामक राज्य का फ्रेडरिक महान नाम से विख्यात शासक) का काल है।

एक ऐसा शासक जो ऐसा कहने में अपने को छोटा नहीं समझता कि वह इसे अपना कर्त्तृव्य समझता है कि वह धार्मिक मामलों में लोगों के लिए कुछ निर्धारित न करें और उन्हें इस मामले में पूरी स्वतंत्रता दे , जो यहां तक कि "सहिष्णुता' को भी एक उद्धृत शब्द समझे वह निश्चित ही स्वयं प्रबुद्ध है। कृतज्ञ संसार और भावी पीढ़ियों को उसकी इसलिए प्रशंसा करनी चाहिए की वह पहला व्यक्ति था- कम से कम सरकारो में, जिसने मानवता को अपरिपक्वता ( नाबालिग मत /अवस्यकता ) से अबारा और अन्तरात्मा

33

के मामलों में सबको स्वतंत्र छोड़ दिया । उसके शासन काल में सामान्या पादरी, उनका औपचरिक दायित्व कुछ भी हो, बहैसियत विद्धान, अपने मत लोगों के समाने खुल कर रख सकते थे, अपने पंथ से थोड़ा हट कर भी। यह काम दूसरे लोग भी कर सकते थे। स्वतंत्रता की बयार विदेशों तक जा रही है- वहाँ भी जहां सरकारी प्रतिरोध से संघर्ष करना पड़ रहा है। यह स्वतंत्रता ऐसी सरकारों के समक्ष एक उदाहरण की तरह चमकती है कि स्वतंत्रता की वजह से जनता के बीच समन्वय और सामुदायिक एकता के प्रति चिंता का कोई कारण नहीं होता। अगर जानबूझ कर उन्हें बंदी बनाने की जुगत न की जाय तो लोग स्वयं ही बर्बरता से मुक्ति की ओर बढ़ते हैं।

मैंने विशेषकर धार्मिक मामलों में स्वयं-प्राप्त अवयस्कता से उबरने की बात इसलिए की है कि हमारे शासक कला और विज्ञान के क्षेत्र में अभिभावक बनने में तो कोई दिलचस्पी रखते नहीं - इसके अलावा इसलिए कि ऐसी अवस्यकता सबसे नुकसानदेह होने के साथ ही सबसे अधिक अपमानजनक भी है। धर्म के मामले में वयस्कता के समर्थक राज्याध्यक्ष की मानसिक स्थिति आगे बढ़ती है और उसे इसमें कोई खतरा नजर नहीं आता कि विधि निर्माण में भी उसकी प्रजा सार्वजनिक रूप से अपने विवेक का इस्तेमाल करते हुए अपने विचारों को बेहतर ढंग से सूत्रीकृत करे -वर्तमान, जो मौजूद है, उसकी दो टूक आलोचना करते हुए ।हमारे पास इसका एक चमकदार उदाहरण है- इसमें सम्मानित शासक से आज तक कोई आगे नहीं जा सका।

केवल वही जो स्वयं प्रबुद्ध है, फैन्टमों से नहीं डरता। उसके पास, अनुशासित और भारी सेना है समाज में शॉति स्थापित करने के लिए। वही वह कह सकता है जो एक स्वतंत्र राज्य शायद न कह पाये कि जितना भी और जिस बाबत भी कुछ कर लो. बस आज्ञापालन होना चाहिए। यहां मानव के संबंध में एक अनपेक्षित राह खुलती है, जिसमें ऐसा और कहीं भी होता है अगर वृहतर परिप्रेक्ष्य में देखें, हर कुछ विडम्बनापूर्ण दिखता है। मनुष्य की अन्तरात्मा की मुक्ति के लिए अधिक मात्रा में नागरिक मुक्ति लाभप्रद है लेकिन यह उसके रास्ते में अलंघनीय बाधाएं भी पैदा करती है। दूसरी ओर नागरिक मुक्ति की अधिक मात्रा अंतरात्मा की मुक्ति के लिए जगह बनाती है। इस प्रकार प्रकृति न कठोर ऊपरी परत हटा दी है। और बीज अंतरात्मा की मुक्ति के लिए जगह बनाती है। इस प्रकार प्रकृति ने कठोर ऊपरी परत हटा दी है और बीज, जिसे वह बहुत प्यार करती है- अर्थात मुक्त विचार, लोगों की मानसिकता पर धीरे-धीरे प्रभाव डालता है और वह मुख्य कार्य व्यापार में समर्थ होने लगती है। यथा समय इसका प्रभाव सरकार के सिद्धान्तों पर भी पड़ता है और वह मनुष्य, जो अब यंत्र मात्र नहीं रहा, के अनुकूल व्यवहार को लाभप्रद है लेकिन यह उसके रास्ते में अलंघनीय बाधांए भी पैदा करती है। दूसरी ओर नागरिक मुक्ति की अधिक मात्रा अंतरात्मा की मुक्ति के लिए जगह बनाती है। इस प्रकार प्रकृति ने कठोरर ऊपरी परत हटा दी है और बीज, जिसे बहुत प्यार करती है- अर्थात मुक्त विचार, लोगों की मानसिकता पर धीरे -धीरे प्रभाव डालता है और वह मुख्य कार्य व्यापार में समर्थ होने लगती है। यथा समय इसका प्रभाव सरकार के सिद्धान्तों पर भी पड़ता है और वह मनुष्य, जो अब यंत्र मात्र नहीं रहा, के अनुकूल व्यवहार को लाभप्रद समझने लगती है।

(अनुवाद:लाबव)

34

# प्रबोधन क्या है?

मिशेल फूको

1

आज जब कोई पत्रिका या अखबार अपने पाठकों से कोई प्रश्न पूछता है, तो वह किसी विषय पर पाठकों की राय जानना चाहता है, जिस पर पाठकों की राय पहले ही बन चुकी रहती है। इस प्रकिया में नया सीखने के लिए, कुछ नहीं होता है। अट्ठारहवीं शताब्दी में संपादकगण आम जन से ऐसे सवाल पूछना पसन्द करते थे जिनके जवाब या निदान उनके पास अब तक नहीं रहते थे। मुझे नहीं मालूम कि वह प्रक्रिया ज्यादा प्रभावकारी थी कि नहीं, लेकिन मनोंरजक वह नि:सन्देह थी।

बहरहाल, इसी पंरपरा में, नवम्बर 1784 में एक जर्मन पत्रिका 'Berlinische Monatschrift' ने एक सवाल का प्रत्युत्तर प्रकाशित किया था। सवाल था। सवाल था - प्रबोधन क्या हैं? और जवाब देने वाला -कांट ।

बहुत छोटा सा जवाब। लेकिन, मुझे लगता है, इस जवाब ने इस प्रश्न के विचार के इतिहास में सावधानी से प्रवेश किया जिसका जवाब आधुनिक दर्शन न तो खोज सका, न ही उससे उबर सका। और यह प्रश्न बार-बार, विभिन्न रूपों में, पिछली दो शताब्दियों से दोहराया जा रहा है। हेगेल से लेकर नीत्शे या मैक्स वेबर से होखाईमर या हेबरमास तक, शायद ही कोई दर्शन हो जो इसी प्रश्न से दो-चार होने

35

से बचा हो परोक्ष या अपरोक्ष रूप में। तब, आखिर यह घटना क्या है, जिसे प्रबोधन कहा जाता है और जिसने यह तय, किया, कम से कम आंशिक रूप, से कि हम क्या हैं हम क्या सोचते हैं और आज क्या करते हैं कल्पना कीजिए कि उपरोक्त जर्मन पत्रिका ‘बर्लिनिश मोनाटश्रिफ्ट' अभी भी प्रकाशित हो रही है, और पाठकों से वही प्रश्न कर रही है कि आधुनिक दर्शन क्या हैं शायद हम जवाब देंगे, जिसमें पहले कि जवाब की प्रतिध्वनि होगी- आधुनिक दर्शन वह दर्शन है जो दो शताब्दी पूर्व यूं ही पूछे गए एक प्रश्न- अर्थात् प्रबोधन क्या है? का जबाव देने की कोशिश कर रहा है।

आइए, कांट के जवाब पर थोड़ी देर ठहर कर विचार करें। यह कई कारणों से महत्वपूर्ण है।

1. इसी प्रश्न क जवाब मोजेज़ मेडेलसॉन ने उसी पात्रिका में दो माह पूर्व दिया था। लेकिन कांट ने उसके जवाब को नहीं देखा था। निश्चित रूप से, जर्मन दार्शनिक आंदोलन का यहुदी संस्कृति के नए विकास से सामना इसी क्षण से नहीं होता। मेंडेलसॉन, लेसिंग के साथ, इस बिन्दु पर लगभग 30 वर्षो तक टिका रहा। किन्तु इस समय तक इनके लिए मुख्य सवाल था- जर्मन विचारों में यहूदी संस्कृति के लिए स्थान बनाना, जिसकी कोशिश लेसिंग ने "दी जुडेन' में किया या उन समस्याओं की पहचान करना जो यहूदी विचारों और जर्मन दर्शन, दोनों मौजूद थे। मेंडेलसॉन ने अपने एक लेख में यही किया था। ‘बार्लिनिश' में इन दो आलेखों के प्रकाशन के बाद जर्मन प्रबोधन तथा यहूदी परंपरा ने स्वीकार किया कि वे एक ही इतिहास के हिस्से हैं, और वे उन साझा प्रक्रियाओं को पहचानने की कोशिश कर रहें हैं, जिन्होंने उन्हें जन्म दिया है। शायद यह दोनों की साझा नियति के स्वीकार की घोषणा थी। आज हम जानते हैं कि उससे कौन सा नाटकीय घटनाक्रम शुरू होना था।
2. लेकिन इससे अधिक कुछ और भी है। अपने आप में तथा ईसाई परम्परा में कांट का लेख एक नई समस्या सामने रखता है।

निश्चित ही, यह पहला मौका नहीं था किसी दार्शानिक विचार ने अपने वर्तमान पर विमर्श किया हो। लेकिन सूत्र रूप, में कह सकते हैं कि इसके पहले यह चिंतन हमारे सामने तीन रूपों में आता है।

वर्तमान की याख्या दुनिया के किसी विशेष युग के रूप में की जा सकती है, ऐसा युग जो अपने मूलभूत लाक्षणिकातओं में दूसरों से भिन्न हो, या दूसरे युग से किसी विशेष घटना के कारण अलग जाना जाये। इस तरह हम देखते हैं कि प्लेटों के "द स्टेट्समैन' में उसके व्याख्याकारों ने स्वीकार किया कि यह विश्व की उन क्रांतियों में से है जिसमें दुनिया पीछे जाती है और जिनके परिणाम विश्व के लिये नकारात्मक ही निकलने थे।

* वर्तमान की जांच - पड़ताल इस बात को जानने का प्रयत्न हो सकती है कि इसमें आगामी किसी बड़ी घटना की शुरूआत के कोई चिन्ह मौजूद हैं कि नहीं !यहां हमें एक ऐतिहासिक व्याख्याशास्त्र के दर्शन होते है, ऍगस्टीन जिसका एक उदाहरण प्रस्तुत करता है।
* वर्तमान को हम एक नये युग के उदय के सक्रंमण बिन्दु के रूप में भी विश्लेषित कर सकते हैं। अर्थात् वह, जिनका वर्णन वीचों अपनी पुस्तक ‘ला सियेंजा नुओवा' के आखिरी अध्याय में करता है जिसे वह "आज' कहता है वह "एक पूरी मानवता है... (जो) सभी देशों में फैली हुई हैं क्योंकि कुछ महान शासक, लोगों के इस संसार पर शासन करते हैं।” यह भी कि "यूरोप ... ऐसे लोगों से दमक रहा है जिनमें सभी अच्छी चीजें प्रचुरता में मौजूद हैं जो मानव जीवन को सुखी बनाने की ओर उद्यत हैं"। तब जिस तरह कांट प्रबोधन (Aufklarung) के प्रश्न को समाने लाता है, वह पूरी तरह भिन्न है।

36

यह न तो विश्व का कोई युग है जिससे कोई अपने आप को जोड़ता है, न ही यह कोई धटना है जिसके चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे है, न ही यह कोई घटना है जिसके चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे हो और न ही किसी बड़ी उपलब्धि की शुरूआत हैं। कांट प्रबोधन को लगभग पूरी तरह नकारात्मक रूप से परिभषित करता है। वह कहता है कि प्रबोधन एक ‘निकासद्धार’है, एक ‘बाहर निकलने का रास्ता है। इतिहास के अन्य लेखों में कांट अक्सर उत्स का प्रश्न उठाता है या ऐतिहासिक प्रक्रिया के आंतरिक प्रयोजनशास्त्र को परिभषित करता है। प्रबोधन के अपने लेख में कांट अपने समकालीन यथार्थ का ही प्रश्न उठाता है। वह वर्तमान को सम्पूर्णता या भविष्य कि किसी उपलब्धि के आधार पर समझने की चेष्टा नहीं करता । वह एक अंतर की तलाश में है अर्थात वह तलाश में हैं कि कल की तुलना में आज किन मामलों में भिन्न हैं ?

1. यहां मैं कांट के इस कथन में विस्तार से नहीं जाऊँगा, क्योंकि संक्षिप्त होने के बावजूद बहुधा यह बहुत स्पष्ट नहीं है। मैं सिर्फ तीन या चार विशेष का ज़िक्र करूँगा, जो मेरी निगाह में महत्वपूर्ण हैं और जिनकी मार्फ़त हम समझ सकते हैं कि कांट ने वर्तमान पर दार्शनिक प्रश्न किस तरह उठाए। कांट शुरूआत में ही इंगित करता है कि "निकास” जो प्रबोधन की विशिष्टता है, एक प्रक्रिया है जो हमें"अपरिपक्वता” की स्थिति से मुक्त करती है। और "अपरिपक्वता” से उसका आशय हमारी इच्छाशक्ति की एक निश्चित स्थिति से हैं जिसमें हम उन क्षेत्रों में किसी अन्य के प्रधिकार को स्वीकार करते हैं, जहाँ आवश्यकता होती है तर्कबुद्धि की। कांट तीन उदाहरण प्रस्तुत करता है। जैसे "अपरिपक्वता" की एक स्थिति यह हैं- जब कोई पुस्तक हमारी सोच-समझ का स्थान ले लेती है या जब कोई आध्यात्मिक निर्देशक हमारी अंतरात्मा की जगह ले लेता है, या जब कोई डॉक्टर यह तय करता है कि हमारा भोजना कैसा हो। ( चलते चलते हम यह नोट कर लें कि इन तीन मीमांसाओं को आसानी से पहचाना जा सकता, हालांकि लेख का पाठ इसे स्पष्ट नहीं करता है। हर स्थिति में प्रबोधन इच्छाशक्ति, प्राधिकार और तर्कबुद्धि के पूर्व स्थित संबंधों के रूपातरंण द्वारा परिभाषित होता है।

हम यह भी ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कांट के द्वारा व्यक्त यह निकास अस्पष्ट है। वह इसे एक परिघटना, एक सतत प्रक्रिया कहता है। किन्तु वह इसे एक कार्यभार और एक दायित्व भी मानता है । पहले पैराग्राफ में ही वह नोट करता है कि मनुष्य अपनी अपरिपक्व स्थिति के लिए स्वयं ज़िम्मेदार है। अत: इसे स्वीकारना पड़ेगा कि वह वह इस स्थिति से केवल तभी मुक्त हो सकेगा जब वह अपने स्वयं में परिवर्तन लाएगा। महत्वपूर्ण है, जब कांट कहता है कि प्रबोधन में "wahlspruch" निहित है और "wahlspruch" एक उद्घोषी युक्ति, अर्थात्, एक विशिष्ट अभिलाक्षणिकता है जिसके द्वारा किसी की पहचान की जा सकती है, और वह यह एक आदर्शोक्ति एक निर्देश है जिसे कोई व्यक्ति स्वयं को देता है, और दूसरे को प्रस्तावित करता है। तब, यह निर्देश क्या है? कांट कहता है, यह है "aude sapere" –अर्थात् "जानने का साहब”, जानने के लिए साहस, दु:साहस रखना। इस तरह, प्रबोधन को अवश्य ही एक साथ एक प्रकिया के रूप में, जिसमें लोग सामूहिक तौर पर हिस्सा लेते हैं, और व्यक्तिगत रूप से निष्पादित एक साहसिक कृत्य के रूप मे,लिया जाना चहिए। व्यक्ति एक ही साथ एक ही प्रक्रिया के तत्व भी हैं और एजेण्ट भी। वे इस प्रक्रिया मे अपनी भागीदारी की सीमा तक कारक हैं, और यह प्रक्रिया उसी सीमा तक घटित होती है जिस सीमा तक लोग अपनी स्वेच्छा से उसमें भाग लेते हैं।

कांट के लेख में एक तीसरी दिक्कत "मानवजाति” शब्द के इस्तेमाल को लेकर है। कांट की इतिहास संबंधी अवधारणा में इस शब्द का महत्व सर्वविदित है। क्या हम यह समझें कि प्रबोधन की प्रक्रिया के

37

घेरे में सम्पूर्ण मानवजाति आती हैं? इस स्थिति में हमें प्रबोधन को एक ऐतिहासिक परिवर्तन के रूप में स्वीकार करना पडेगा जो पृथ्वी पर रहने वाले सभी लोगों के राजनैतिक तथा सामजिक जीवन में फर्क लाता है। या, क्या हम यह समझे कि प्रबोधन बदलाव की एक ऐसी प्रक्रिया है जो मानवजति की मानवता को प्रभावित करती है? तब प्रश्न उठता है यह जानने का, कि यह बदलाव क्या हैं ? पुनश्च, इस प्रश्न का जो उत्तर कांट देता है, वह भी कतिपय अस्पष्टता से परे नहीं है। किसी भी स्थिति में, ऊपर से देखने में यह जितना सरल दिखाई पड़ता है, उतना है नहीं । बल्कि जटिल है।

कांट दो जरूरी शर्तों का ज़िक्र करता है, जिसके तहत मानवजति अपनी अपरिपक्वता से बच सकती है। और ये शर्तें एक ही साथ आध्यत्मिक और संस्थागत, नैतिकऔर राजनैतिक हैं।

इन शर्तों में पहली शर्त है कि आज्ञाकारिता के क्षेत्र तथा तर्क के इस्तेमाल के क्षेत्र - दोनों में स्पष्ट रूप से अंतर किया जाए। अपरिपक्वता की स्थिति की संपेक्ष में विशेषता बताते हुए कांट एक आम अभिव्यक्ति-"सोचो मत, केवल आदेशों का पालन करो” का इस्तेमाल करता है। उसके अनुसार, सैनिक अनुशासन राजनैतिक सत्ता धार्मिक प्राधिकार का प्रयोग इसी रूप में होता है। मानवता कांट कहता एक आम अभिव्यक्ति-"सोचो मत, केवल आदेशों का पालन करो" का इस्तेमाल करता है। उसके अनुसार, सैनिक अनुशासन, राजनैतिक सत्ता धार्मिक प्राधिकार का प्रयोग इसी रूप में होता है। मानवता कांट कहता है, अपनी परिपक्तवता की स्थिति को तब प्राप्त करेगी, जब लोगों को बताया जाएगा- " पालन करो और तब तुम जितना चाहो, तर्क कर सकते हो। हमें अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि यहां जर्मन भाषा का शब्द 'rasonieren' इस्तेमाल हुआ है। यह शब्द जो "समीक्षाओं" में भी इस्तेमाल हुआ है, तर्क के किसी भी प्रयोग को इंगित नहीं करता, बल्कि तर्कबुद्धि के ऐसे इस्तेमाल की ओर इशारा करता है जो स्वयं में एक साध्य है। 'resonieren' का अर्थ है तर्कबुद्धि के लिए तर्क करना। और कांट उदाहरण देता है,जो देखने में बहुत ही मामूली प्रतीत होते हैं, जैसे -लोगों के द्वार कर अदा करना, जबकि उन्हें स्वतंत्रता हो कि जितना चाहे, और जैसा चाहें, वे कर व्यवस्था को लेकर तर्क कर सकते हैं। यह स्थिति एक परिपक्व अवस्था की द्योतक होगी। या यदि कोई पादरी हे तो पादरी की सेवाओं का निर्वाह करते हुए वह धार्मिक सिद्धांतों पर स्वतंत्रतापूर्वक तर्क रह सके।

हम यहां सोच सकते हैं कि यह स्थिति सोलहवीं शताब्दी से हम अंतरात्मा की स्वंत्रता से जो अर्थ लगाते हैं, अर्थात् हमें यह अधिकार है कि हम जैसा चाहें सोच सकते हैं बशर्ते हम आदेशों का पालन करते जांए- से तो कतई भिन्न नहीं है। लेकिन यहां कांट एक विशिष्टता की ओर ध्यान आकर्षित करता है वह भी थोड़ा अचम्भित करते हुए। कांट तर्कबुद्धि के निजी और सार्वजनिक प्रयोगों के बीच फर्क करता है। लेकिन साथ ही साथ वह कहता है कि तर्कबुद्धि अपने सार्वजनिक प्रयोगों में स्वतंत्र होना चाहिए, जबकि अपने निजी प्रयोगों मे उसे आज्ञाकारी होना चाहिए। शब्दश:, यह विपरीत है उसके जिसे हम साधारणतया अंतरात्मा की स्वतंत्रता के रूप में जानते हैं।

लेकिन हमें थोड़ा और ज्यादा सटीक होना चहिए । अर्थात, कांट के लिए, तर्कबुद्धि के इस निजी उपयोग का माने कया है किस क्षेत्र में इसे प्रयोग किया जाता है? कांट कहता है, मनुष्य तर्कबुद्धि का निजी प्रयोग तक करता है जब वह "मशीन का एक पुर्जा” (a cog in a machine) होता है। अर्थात, जब समाज में अदा करने के लिए उसके पास एक रोल होता है और करने के लिए काम। जैसे कि वह एक सिपाही हो, उसे टैक्स देना, हो या वह किसी क्षेत्र का पादरी हो या वह एक असैनिक कर्मचारी हो-ये सभी स्थितिया व्यक्ति को समाज का विशिष्ट हिस्सा बनाती हैं, और इस तरह वह अपने आप को एक सुनिश्चित स्थिति में बंधा पाता है जिसमें उसे कुछ विशेष नियमों को लागू करना होता है और कुछ विशेष लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है। कांट यह नहीं कहता की लोग मूर्खतापूर्ण और अंधे की तरह

38

आज्ञा का पालन करते हैं, किंतु वह कहता है कि वे अपने तर्कबुद्धि का प्रयोग पूर्वनिश्चित परिस्थितियां के अनुसार करे हैं-तब, यह कहा जाएगा कि तर्कबुद्धि का उनका प्रयोग विशेष ध्येय के अनुसार निर्धारित होता है। ऐसी स्थिति में तर्कबुद्धि का मुक्त प्रयोग नहीं हो सकता।

दूसरी ओर, जब कोई तर्कबुद्धि के प्रयोग के लिए तर्क करता है , जब कोई तर्क एक तार्किक व्यक्ति के रूप में करता है (और मशीन के एक पुर्जे के बतौर नहीं), जब कोई तर्क का इस्तेमाल तार्किक समुदाय के सदस्य के रूप में करता है, तब तर्क का ऐसा प्रयोग अवश्य ही स्वतंत्र और सार्वजनिक होना चाहिए। प्रबोधन, इस तरह केवल ऐसी प्रक्रिया नहीं है जिसे व्यक्ति विचारों की अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की गारंटी के रूप में देखता है। प्रबोधन वहां है जहां तर्कबुद्धि का सार्वजनीन, स्वतंत्र और सार्वजनिक प्रयोग एक दूसरे पर अघ्यारोपित रहता है।

यह विवचेन हमे चौंथे प्रश्न की ओर अग्रसर करता है, जिसके आलोक में हमें कांट के लेख को अवश्य परखना चाहिए। हम बहुत आसानी से देख सकते हैं कि कर्त्ता के रूप में व्यक्ति द्वारा तर्क का सार्वभौमिक प्रयोग करना ( निजी ध्येय से अलग) किस तरह से स्वयं उसका कार्यव्यापार है। हम आसानी से यह भी देख सकते हैं कि तर्कबुद्धि के इस तरह के प्रयोग की स्वंतत्रता किस प्रकार पूर्ण रूप से निषेघात्मक तौर पर सुनिश्चित की जा सकती है- इसके प्रति चुनौती की संभावना को खत्म करके। लेकिन उस तर्कबुद्धि के सार्वजनिक प्रयोग को किस तरह सुनिश्चित किया जाए इस तरह हमें स्पष्ट है कि प्रबोधन को निश्चित ही एक ऐसी व्यापक प्रक्रिया, जो पूरी मानवता को प्रभवित करती है, के रूप में ही नहीं देखा जाना चाहिए। इसे निश्चित तौर पर केवल व्यक्तियों के लिए निर्दिष्ट दायित्व के रूप में भी नहीं देखा जाना चाहिए क्योंकि अब यह एक राजनैतिक समस्या के रूप में हमारे सामने हैं। प्रत्येक दशा में, केवल सवाल यह है यह जानने का कि किस प्रकार तर्कबुद्धि का प्रयोग सार्वजनिक हो सकता है या कि किस प्रकार जानने के निर्भीक साहस का प्रयोग खुले तौर पर किया जा सकता है, उस स्थिति में जबकि व्यक्ति पूरी ईमानदारी से आज्ञा का पालन भी कर रहे हों और कांट , निष्कर्षत: फ्रेडरिक द्वितीय को ढके - मुदें शब्दो में एक किस्म का करार प्रस्तावित करता है- जिसे तार्किक निरंकुशता का करार रहा कहा जा सकता है। ऐसा करार जिसमें बंधनमुक्त तर्कबुद्धि का प्रयोग सुनिश्चित हो। स्वायत्त तर्क का सार्वजनिक और स्वतंत्र प्रयोग ही आज्ञाकारित की सबसे अच्छी गांरटी हो सकती है। हालंकि इस शर्त के साथ कि राजनैतिक नियम, जिनका पालन आवश्यक है, स्वयं सार्वभौमिक तर्क के अनुसार हो।

कांट के लेख को अब यहीं छोड़िए। मेरे कहने का तात्पर्य यह कतई नहीं है कि कांट का लेख प्रबोधन का पर्याप्त विवरण प्रस्तुत करता है। और, मैं सोचता हूँ, कोई भी इतिहासज्ञ अठ्टारहवीं शताब्दी के अंत में हुए सामजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के विश्लेषण के लिए कांट के लेख से शायद संतुष्ट होगा।

तथापि, बावजूद इसकी पारिस्थितियां प्रकृति के, तथा कांट की रचनाओं में इसे प्रमुख स्थान , न देते हुए भी, मैं यकीन करता हूँ कि यह आवश्यक है कि कांट के इस संक्षिप्त लेख और उसकी तीन मीमांसाओं के बीच जो संबंध है, उस पर जोर दिया जाए। वास्तव में, कांट इस लेख में प्रबोधन को एक ऐसे क्षण के रूप में वार्णित करता है जब मानवता स्वयं की तर्कबुद्धि को प्रयोग करने को तत्पर है- बिना अपने आप को किसी सत्ता के अधीन किए हुए। और यही वह क्षण है मीमांसा आवश्यक है। क्योंकि मीमांसा की यह भूमिका है कि वह निश्चित करे कि किन दशाओं में तर्कबुद्धि का इस्तेमाल जायज़ है,

39

यह निर्धारित करने के लिए कि क्या जाना जा सकता है, क्या किया जाना आवश्यक है, और किसकी आशा की जा सकती है। तर्कबुद्धि का नाजायज़ इस्तेमाल वह है जो हठधर्मिता और परतंत्रता के साथ ही साथ भ्रांति को जन्म देता है। इसके विपरीत, जब तर्कबुद्धि के जायज इस्तेमाल सैद्धांतिक रूप से साफ-साफ परिभाषित हो जाते हैं, तभी इसकी स्वायत्तता को सुनिश्चित किया जा सकता है। एक अर्थ में मीमांसा तर्कबुद्धि का संदर्भ ग्रंथ है जो प्रबोधन के साथ-साथ विकसित हुआ है। इसके विपरीत, प्रबोधन मीमांसा का युग है।

मैं सोचता हूँ कि यह आवश्यक है कि कांट के इस लेख और इतिहस को समर्पित उसके अन्य लेखों के बीच के अन्तर्सबंध को रेखांकित किया जाए। इतिहास के उसके अन्य लेख बहुलांश में, काल की प्रयोजनमूलकता तथा उस बिन्दु को जिस ओर मानवता आगे बढ़ रही है, को स्पष्ट करते हैं। प्रबोधन का विश्लेषण जो इस इतिहास को मानवता की वयस्क स्थिति को प्राप्त करने की यात्रा के रूप में परिभाषित करता है - समकालीन यथार्थ को मानवता की सम्पूर्ण यात्रा और इसकी मूलभूत दिशाओं के सापेक्ष स्थित करता है। किन्तु उसी क्षण यह दिखलाता है कि किस प्रकार प्रत्येक व्यक्तित उस विशिष्ट क्षण में इस समग्रं प्रक्रिया के लिए एक विशिष्ट रूप से उत्तरदायी है।

जो पारिकल्पना मैं प्रस्तुत करना चाहता हूँ, वह यह है कि काट का यह संक्षिप्त लेख एक अर्थ में मीमांसीय चिंतन तथा इतिहास पर मनन के चौराहे पर स्थित है। यह कांट के द्वारा अपने स्वयं के उद्यम के समकालीन महत्व पर एक चिन्तन है। नि:सन्देह, यह पहला मौका नहीं है जब कीसी दार्शनिक ने किसी विशेष क्षण पर कोई विशेष उपक्रम को अपने हाथ में लेने के कारणों को स्पष्ट किया है। किन्तु मुझे लगता है कि यह पहला अवसर है जब किसी दार्शनिक ने इस प्रकार, और काफी भीतर से, अपने काम की अर्थवत्ता को, ज्ञान के संदर्भ, इतिहास पर चिंतन और उस विशेष क्षण के विश्लेषण, जिसमें और जिसके कारण वह लिखा रहा है, से इस तरह जोड़ा हो। मुझे लगता है कि कांट के इस लेख की नूतनता इसमें है कि यह इतिहास में भिन्नता और किसी विशेष दार्शनिक कार्यभार के लिए प्रेरणा के रूप में "वर्तमान” पर उसके चिंतन को रखता है।

इस पर इस रूप से नज़र डालने पर मुझे लगता है कि हम प्रस्थान-बिन्दु को पहचान सकता हैं, जिसे सारांश में आधुनिकता की भंगिमा कहा जा सकता है।

2

मैं जानता हूँ कि आधुनिकता का वर्णन अक्सर एक युग की तरहा होता है। या, कम से कम, विशेषताओं के ऐसे समुच्चय के रूप में जिसमें एक युग की लाक्षणिकताएँ उपस्थित हों। कालक्रम में रख कर देखें तो आधुनिकता पूर्व के कमोबेश अप्रौढ़ या पुरातन पूर्व-आधुनिकता तथा बाद के पेचीदा और कष्टप्रद ‘उत्तर-आधुनिकता” के बीच आता है। तब हम स्वयं को यह प्रश्न करते पाते हैं कि क्या आधुनिकता प्रबोधन की परिणति और उसका विकास है, या इसे हम अट्ठाहरवीं शताब्दी के बुनियादी सारतत्वों से क्रम-भग या व्यतिक्रम के रूप में देखें ?

कांट के लेख पर पुन: लौटते हुए, मुझे यह अचरज होता है कि क्या हम आधुनिकता को इतिहास के एक युग के बजाए एक भंगिमा के ब?तौर नहीं रूपायित कर सकते और "भंगिमा” से मेरा आशय है समकालीन यथार्थ से जुड़ने की एक प्रणाली, एक रूप, कुछ लोगों के द्वारा किया गया स्वैच्छिक चुनाव; और, अंत में, एहसास और सोच का एक तरीका जो एक निजता का सम्बन्ध और साथ ही साथ एक कार्यभार चिन्हित करता है। नि:सन्देह, कुछ-कुछ ऐसा जिसे यूनानियों ने लोकाचार कहा। परिणामत:,

40

बजाए इसके कि हम “आधुनिक युग” को “प्राक्-आधुनिक” से अलग दिखाने की कोशिश करें, यह ज्यादा लाभदायक होगा कि हम यह जानने की कोशिश करें कि अपनी निर्मिति के समय से ही आधुनिकता की भंगिमा स्वयं को “प्रतिआधुनिकता” की भंगिमा से संधर्षरत पाती रही है।

संक्षेप में आधुनिकता की इस भंगिमा की लाक्षणिकता को स्पष्ट करने के लिए मैं बोदलेयर का उदाहरण दूँगा, आधुनिकता की अपनी चेतना के कारण जिसका उदाहरण उन्नीसवीं शताब्दी में सबसे सटीक और अपरिहार्य माना जाता है।

1. आधुनिकता अक्सर काल के व्यतिक्रम (discontinuity) की चेतना के रूप में वर्णित होती है। एक ऐसी चेतना जो परंपरा से तोड़ती है, जो नूतनता का एक अहसास है, जो प्रवाहमान क्षण के सामने एक भंवर है। और बोदलेयर यही कहता प्रतीत होता है जब वह आधुनिकता को क्षणिक, भागता हुआ सा, आकस्मिक के रूप में परिभाषित करता है। लेकिन उसके लिए आधुनिकता होने का अर्थ इस सतत गति की पहचान और स्वीकार में नहीं है। इसके विपरीत, यह इस गति के प्रति खास भंगिमा को धारण करने में है; और यह सायास, कठिन भंगिमा निहित है उस शाश्वत को पुन: प्राप्त करने में जो मौजूद पल के परे नहीं, न इसके पीछे, वरन् इसमें ही अन्तर्निहित है। आधुनिकता फैशन से अलग है, जो समय की धारा पर प्रश्न उठाने से ज्यादा कुछ नहीं करता। आधुनिकता है एक भंगिमा जो मौजूद पल के “नायकत्वीय” पहलू को समझाना संभव बनाती है। आधुनिकता द्रुतगामी वर्तमान के प्रति संवेदनशीलता की परिघटना नहीं है, यह है वर्तमान को “नायकत्व” प्रदान करने की कामना।

बोदलेयर अपने समकालीनों की चित्रकला पर जो कहता है, मैं स्वयं को वहीं तक सीमित रखूँगा। बोदलेयर उन चित्रकारो का मज़ाक उड़ाता है जो उन्नीसवीं सदी की वेश-भूषा को अत्यधिक भद्दा मानते हुए केवल प्राचीन चोगों को ही चित्रित करना चाहते हैं। किन्तु बोदलेयर के लिए, आधुनिकता चित्रकारी का अर्थ कैनवस पर काले वस्त्रों को उकेरना नहीं है। उसके अनुसार, आधुनिकता चित्रकार वह है जो गाढ़े रंग के फ्राक-कोट को अपने समय की आवश्यक पोशाक के रूप में दिखा सके, एक ऐसा चित्रकार जो अपने समय के फैशन में स्पष्ट कर सके उस आवश्यक, स्थायी सम्मोहक रिश्ते को जो हमारे युग का उसकी मृत्यु के साथ है। वह कहता है, “ड्रेस-कोट और फ्राक-कोट में न केवल राजनैतिक सौन्दर्य है, जो सार्विक समानता की अभिव्यक्ति है; बल्कि उनमें काव्यात्मक सौन्दर्य भी निहित है, जो लोक आत्मा की भी अभिव्यक्ति है। लोक आत्मा जो शवयात्रा लोक आत्मा जो शवयात्रा संचालक द्वारा आयोजित मौन लोगों (प्रेमग्रस्त मूक, राजनैतिक मूक, बुर्जुआ मूक) की विशाल शवयात्रा है। हम में से प्रत्येक किसी न किसी शवयात्रा के उत्सव में शामिल हैं।“ है। हम में से प्रत्येक किसी न किसी शवयात्रा के उत्सव में शामिल हैं।“ आधुनिकता की इस भंगिमा को अभिहित करने के लिए बोदलेयर अक्सर एक व्यक्ति का प्रयोग करता है, जो अत्यंत महात्वपूर्ण है, क्योंकि यह एक समादेश के रूप में प्रयुक्त होती है – “आप को कोई हक नहीं कि आप वर्तमान को हेय समझें।”

1. कहने की ज़रूरत नहीं, वर्तमान को इस तरह का नायकत्व प्रदान करना विडम्बनापूर्ण है। आधुनिकता की भंगिमा गुजरते पलों को बनाए रखने या अमर बनाने के लिए उसे पवित्र नहीं मानती। आधुनिकता की भगिमा उन्हें तेजी से फिसल रही रोचक जिज्ञासा के रूप में नहीं संजोती। बोदलेयर कहता है कि यह तो एक दर्शक की मन:स्थिति है। एक आलसी, निष्क्रिय चहलकदमी करता हुआ तमाशाई अपनी आंखें खुली रखने, ध्यान देने और स्मृतियों का एक भण्डार बनाने मात्र से ही संतुष्ट हो जाता है। एक तमाशई के बरअक्स, बोदलेयर आधुनिक व्यक्ति का वर्णन एक ऐसे व्यक्ति के रूप में करता है जो जब “कहीं जाता हुआ, तेजी में, और कुछ खोजता हुआ... निश्चित मानिए कि यह व्यक्ति

41

यह अकेला, सक्रिया रचनात्मक कल्पना से संपन्न, विराट इन्सानी रेगिस्तान की अनवरत यात्रा करने वाला यह व्यक्ति तमाशाई की तुलना में बड़ा उद्देश्य सामने रखता है, एक लक्ष्य जो उससे ज्यादा व्यापक है, जो दुनिया के पलायनवादी आनंद से भिन्न है। उसे उस लक्षण की तलाश है, जिसे, मुझे अनुमति दी है कि मैं उसे ‘आधुनिकता’ के नाम से अभिहित कर सकूँ। --- इतिहास में उपस्थित कविता के जो भी तत्व विद्यमान हैं, वह व्यक्ति फैशन से उसे निचोड़ने को अपना गंभीर कार्यभार मानता है।” आधुनिकता के एक उदाहरण के बतौर, बोदलेयर कलाकार कोसतांते गीज़ का नाम लेता है। देखने से एक प्रेक्षक और कौतूहल में आनंद लेने वाला, वह व्यक्ति "जहां कहीं भी रोशनी की चमक मौजूद हो सकती है, जहां कहीं भी कविता की अनुगूंज है, जीवन का स्पन्दन या संगीत का कोई साज़ मौजदू है, जहां कहीं भी आवेश उसके समाने उपस्थित है, जहां कहीं भी प्रकृत व्यक्ति एवं पारंपरिक व्यक्ति अपने विलक्षण सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत है, जहां कहीं भी सूर्य का प्रकाश निरीह, जानवरों के फुर्तीले आनंद को प्रकाशित करता है- अंत तक मौजूद रहता है।

किन्तु समझने में हम गलती न करें, कोसतांतें गीज एक तमाशाई नहीं है। बोदलेयर की नजर में जो चीज़ उसे आधुनिक चित्रकारों में अद्वितीय बनाती है, वह है, जब पूरी दुनिया सो रही होती है, वह अपने काम की शुरूआत करता है, और वह उस दुनिया को रूपांतरित कर देता है और यह रूपातंरण किसी यथार्थ को नष्ट करके नहीं, बल्कि यथार्थ तथा स्वतंत्रता के उपयोग के सत्य के बीच की दु:साध्य अन्योन्य क्रिया से घटित होता है। कुछ इस तरह कि “प्राकृतिक वस्तुएं से कुछ और अधिक”, "सुन्दर” वस्तुएं "सुन्दर से कुछ और अधिक” और प्रत्येक वस्तुंए सर्जक की आत्मा से स्पन्दित होती हुई प्रतीत होने लगती हैं। आधुनिकता की भंगिमा को आज के उच्च मूल्य और इसकी कल्पना की दु:साहसिक उत्कंठा से अलग नहीं किया जा सकता। यह किसी चीज की ऐसी कल्पना है जो वह न हो, और उसे रूपान्तारित करना, उसे नष्ट करके नहीं, वरन उसकी अस्मिता की गहरी पहचान को महसूस करके बोदलेयर की आधुनिकता एक व्यवहार है, जिसमें जो वास्तव में है, के प्रति चरम एकाग्रता का सामना स्वातंत्र्य के व्यवहार से रहता है, जो एक ही साथ यथार्थ का आदर करती है और उसका उल्लंघन भी।

1. बहरहाल बोदलेयर के लिए आधुनिकता वर्तमान के साथ केवल एक सम्बन्ध का रूप ही नहीं, सम्बन्ध की एक प्रणाली भी है जिसे खुद अपने आप से स्थापित करना होता है। आधुनिकता की यह सोद्देश्य भंगिमा अपरिहार्य वैराग्य से भी गुंथी है। आधुनिक होना प्रवाहमान क्षणों के बहाव में अपने आप को, जैसा वह है, स्वीकारना नहीं है यह है जटिल और गूढ़ विस्तरण में अपने आपको एक पात्र के रूप में स्वीकारना, जिसे बोदलेयर अपने समय की शब्दावली में, ‘बांकपन’ कहकर पुकारता है। यहाँ मैं बोदलेयर के उन सुविदित लेखांशों को विस्तार से प्रस्तुत नहीं करूंगा, विषय हैं ... "अपरिष्कृत अनगढ़, तुच्छ प्रकृति” मनुष्य का अपने खिलाफ अपरिहार्य विद्रोह, "सुचारूता का सिद्धान्त" जो "उच्चाकांक्षी ओर विनीत शिष्यों पर” पर ऐसा अनुशासन लागू करता है जो सबसे भयानक धर्मो से भी अधिक निरंकुश हो, और अन्त में, बांका जो अपने शरीर को अलंकृत करता है, के वैराग्य पर या उसके व्यवहार, उसकी भावनायें और भावावेशा., उसके अपने अस्तित्व, कलाकृति आदि-आदि । बोदलेयर के लिये आधुनिक मनुष्य वह नहीं है जो अपनी खोज के लिए सुदूर कहा जाता है। यह आधुनिकता "मनुष्य को अपने अस्तित्व के भीतर मुक्त’ नहीं करती है, बल्कि यह उसे बाध्य करती है कि वह अपने आपको को निर्मित करने के कार्यभार को हाथ में लें।
2. मुझे एक आखिरी बात जोड़ने दें। यह जो वर्तमान का विडम्बनात्मक नायकीकरण है, यह स्वतंत्रता

42

के यथार्थ में रूपांतरण की जो क्रीडा है, अपने आत्मा का जो वैरागी विस्तरण है- बोदलेयर इनकी कल्पना स्वयं समाज में या राजनैतिक व्यवस्था में नही करता है। वह कहता है कि ये केवल एक दूसरे, एक दूसरी जगह में ही निर्मित हो सकते हैं, जिसे बोदलेयर कला कहता है।

मेरा यह दावा नहीं है कि इन चंद पंक्तियों में मैं सारांश प्रस्तुत कर रहा हूं, अठारहवीं सदी के अन्त में प्रबोधनरूपी जटिल ऐतिहासिक घटना का, या आखिरी दो शताब्दियों में आधुनिकता के विभिन्न रूपों का। मैं यहाँ, एक ओर, इस पर जोर देना चाहता हूं कि इस तरह की दार्शानिक जांच-पड़ताल की जडें किस सीमा तक प्रबोधन में हैं। यह जांच-पड़ताल जो एक ही साथ आज के मनुष्य के अस्तित्व के ऐतिहासिक रूप से मानव के संबंध को, एवं एक स्वायत्त कर्ता के रूप में आत्मा की रचना को एक समस्या के रूप में अघ्ययन करती है। दूसरी ओर, मैं इस पर जोर देने की कोशिश कर रहा हूं कि वह तंतु जो हमें प्रबोधन से जोड़ता है, सैद्धान्तिक तत्वों के प्रति हमारी निष्ठा नहीं है, बल्कि एक भंगिमा का स्थाई पुनरूत्प्रेरण है। अर्थात, यह पुनरूत्प्रेरण है एक दार्शनिक लोकाचार का, जिसको हमारे युग की स्थाई समीक्षा के रूप में वार्णित किया जा सकता है। मैं इस लोकचार की लाक्षाणिकताओं को संपेक्ष में रखना चाहूंगा।

क नकारात्मक रूप से

1. लोकाचार का अर्थ, पहले तो अस्वीकार है, जिसे मैं प्रबोधन का ‘भयादोहन’ कहना पसन्द करता हूं। मैं सोचता हूं कि राजनैतिक, आर्थिक, सामजिक, संस्थागत तथा सांस्कृतिक घटनाओं के, समुच्चय के रूप में प्रबोधन, जिसपर हम अब भी अधिकांश में आश्रित हैं, विश्लेषण का एक विशेषाघिकृत दायरा है। मैं यह भी सोचता हूं कि सत्य की प्रगति और स्वातंत्र्य के इतिहास के बीच स्पष्ट सीधे रिश्ते के रूप में इसने एक दार्शनिक सवाल हमारे सामने प्रस्तुत किया है, जिसपर हमें मनन करना है। अन्त में, मैं यह सोचता हूँ, जैसा कि मैंने कांट के लेख के हवाले से दिखाने की कोशिश की है, कि इसने दार्शानिककीरण के एक विशेष तरीके को भी निर्धारित किया है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी का प्रबोधन का “समर्थक” या "मुखालिफ” होना ही पड़ेगा। स्पष्टत:, इसका अर्थ यह भी नहीं है कि यह उन सभी चीज़ो को अस्वीकार करे जो सरलीकृत और निरंकुश विकल्प के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती हैं। या तो आप का प्रबोधन को स्वीकार करते हैं और तर्कपरकता की परम्परा में बने भी रहते हैं इस कुछ लोग सकारात्मक स्थिति मानते हैं, इसके विपरीत, कुछ लोग इसे भर्त्सना के योग्य समझते हैं। या, दूसरी स्थिति यह है कि आप प्रबोधन की अलोचना करते हैं और तब आप तर्कसंगति के सिद्धान्तों से पलायन की भी कोशिश करते हैं (पुन:, जिसे अच्छा या बुरा समझा जा सकता है) । और यह तय करते वक्त की प्रबोधन में अच्छे बुरे तत्व क्या हैं, हम "द्वंद्वात्मक” अर्थातरों का यदि इस्तेमाल भी करें, तो भी इस भयादोहन से बच नहीं सकते।

हमें अवश्य ही इस विश्लेषण को प्रस्थान-बिन्दु मानकर आगे बढ़ाना चाहिए कि सीमा तक, प्रबोधन के द्वारा हमारी स्थिति ऐतिहासिक रूप से नियत हो चुकी है। ऐसे विश्लेषण में ऐतिहासिक जांच-पड़ताल की एक श्रृंखला अंतर्निहित है, जो निहायत ही सटीक है। और उस जांच पड़ताल का रूख "तर्कसंगति के वास्तविक सार”, जो प्रबोधन में मौजूद हो सकते हैं और जिसे हर कीमत पर संरक्षित किया जाना है, की ओर नहीं होगा। बल्कि, "अपरिहार्य चीज़ों की समकालीन सीमाओं,” की ओर होगा, अर्थात इस ओर कि हमारे स्वायत्त होने के लिये क्या अपरिहार्य नहीं है, या अपरिहार्य नहीं रह गया है।

1. अपने आप की इस स्थाई समीक्षा को मानववाद और प्रबोधन के बीच की संभ्रतियों से बचना होगा,

43

जो अक्सर उनके अर्थो को लेकर पैदा हो जाती है।

हमें अवश्य ही यह कभी नहीं भूल चाहिये कि प्रबोधन एक घटना है, यह घटनाओं और जटिल ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का एक समुच्चय है, जो यूरोपीय समाजों के विकासक्रम के खास बिन्दु पर अवस्थित है। इस तरह, इसमें शामिल हैं सामजिक रूपान्तरण, राजनैतिक संस्थाओं के विभिन्न रूप, ज्ञान के भिन्न रूप, ज्ञान और व्यवहार के यैक्तिकीरण (rationalization) की परियोजनायें, प्रौद्योगिकीय उत्परिवर्तन जिन्हें एक शब्द में व्यक्त करना बहुत ही मुश्किल है, जबकि इनमें से बहुत सी परिघटनांए आज भी महत्वपूर्ण हैं जिसकी ओर इशारा किया है और जो मुझे सारे दार्शनिक चिन्तर का आधार लगता है, उसका सरोकर है केवल वर्तमान के प्रति चिन्तनशील संबंधो की प्रणाली से।

मानववाद एक बिल्कुल भिन्न चीज है। यह एक विषय है या विषयों का समुच्चय है, जो एक लम्बे अन्तराल में यूरोपीय समाजों में कई बार प्रकट हुआ है। विषय, जो मूल्य-निर्णयों से युक्त रहे हैं प्रत्यक्षत: अपने अन्तर्वस्त तथा उन मूल्यों जिनका संरक्षण किया है, में काफी भिन्न रहे हैं। इसके अतिरिक्त, विभेदन के समीक्षात्मक सिद्धांत के रूप में उन्होंने कार्य किया है। सत्रहवीं शताब्दी में एक मानववाद था जिसने अपने आपको ईसाइयत या धर्म मात्र की आलोचना के रूप में प्रस्तुत किया। एक ईसाई मानववाद था जो वैरागी एवं एक और अधिक धर्मकेन्द्रित मानववाद के खिलाफ खड़ा था। उन्नीसवीं सदी में एक शंकालू मानववाद था जो विज्ञान का विरोधी और उसके प्रति आलोचनात्मक रवैया रखता था, और एक दूसरा मानववाद था जिसने अपनी आशायें विज्ञान पर ही केन्द्रित कर रखी थीं। मार्क्सवाद एक मानववाद रहा है। उसी तरह अस्तित्ववाद तथा व्यक्तिवाद रहें हैं। एक वक्त था जब नात्सीवाद द्वारा प्रस्तुत मानववादी मूल्यों और स्तालिनवादियों, जब उन्होंने स्वयं को मानववादी कहा, को लोगों ने समर्थन दिया।

इसमें हमें यह निष्कर्ष कत्तई नहीं निकालना चाहिये कि जो भी मूल्य या विचार मानववाद से जुड़े रहे, हमें उन्हें ठुकरा देना चाहिये। बल्कि मामला यह है कि मानववाद स्वयं में इतना अस्थिर है, इतना विविधरूपी है, इतना परस्परविरोधी है कि यह किसी मानववाद विषयक चिंतन की धुरी नहीं बन सकता। और यह बात एक हकीकत है कि सत्रहवीं शताब्दी से लेकर आज तक मानववाद ने अपनी अनेक धारणाओं को धर्म विज्ञान या राजनीतिक शास्त्र से उधार लिया है या उसका सहारा लिया है। मानववाद मानव संबंधी उन धारणाओं को नए रंग रूप देने, उन्हें औचित्य प्रदान करने का कार्य करता है, जिनका सहारा लेने के लिये वह अंतत: बाध्य होता है।

मैं इस मामले में यह यकीन करता हूँ कि यह विषय जो हमारे सामने अक्सर उपस्थित होता है, और हमेशा मानववाद पर निर्भर करता है, का विरोध समीक्षा के सिद्धान्त के द्वारा किया जा सकता है, अर्थात एक ऐसे सिद्धान्त द्वारा जो ऐतिहासिक अंतश्चेतना के केन्द्र में है, और जो स्वयं प्रबोधन की अंतरात्मा है। इस दृष्टिकोण से मैं प्रबोधन और मानववाद में एक तनाव देखता हूं, तादात्म्य नहीं।

जो भी हो मुझे लगता है कि दोनों को गड्ड-मड्ड करना खतरनाक होगा। इससे भी ज्यादा, यह ऐतिहासिक रूप से गलत लगता है। यदि मनुष्य का, मानव जाति का, मानववाद का प्रश्न समूची अट्ठाहरवीं सदी के दौरान महत्वपूर्ण था, तो मैं समझता हूँ ऐसा शायद ही कभी इसलिए था कि प्रबोधन अपने आप को मानववाद समझता था। यह भी ध्यान देने योग्य है कि समूची उन्नीसवीं सदी के दौरान सोलहवीं शताब्दी के मानवतावाद का इतिहासशास्त्र, जो सेंट बव या बखार्ट (Buckhardt) जैसे लोगों के लिए इतना महत्वपूर्ण था, हमेशा प्रबोधन और अट्ठारवीं सदी से अलग देखा गया, और कभी-कभी तो उनके विरोध में देखा गया। उन्नीसवीं सदी की प्रवृत्ति दोनों को एक-दूसरे के विरोध में देखने की थी, कम से कम

44

दोनों के गड्ड-मड्ड होने के रूप में।

मुझे लगता है कि जैसे हमें "प्रबोधन के समर्थक या विरोधी” होने के बौद्धिक भयादोहन (intellectual) से हर कीमत पर बचना चाहिए, उसी तरह हमें ऐतिहासिक और नैतिक भ्रांतिवाद से भी अवश्य बचना चाहिए, जो मानववाद के विषय और प्रबोधन के सवाल को गड्डमड्ड करता है। गत दो शताब्दियों के दौरान इनके बीच रहे जटिल संबंधों के विश्लेषण के लिए कोई योजना लेना महत्वपूर्ण होगा, यदि हम खुद के बारे में तथा इतिहास के बारे में अपनी समझ को थोड़ा और स्पष्ट करना चाहते हैं।

ख. सकारात्मक ढंग से

तब, जबकि हम इन एहतियातों को नजर रख रहे है, हमें दार्शनिक लोकाचार को आधिक सकारात्मक अर्थ अवश्य देना चाहिए । दार्शनिक लोकाचार में निहित है हमारी ऐतिहासिक सत्ता-मीमांसा के जरिए जो हम कह रहे हैं, सोच रहे हैं, और कर रहे हैं की समीक्षा ।

1. इस दार्शानिक लोकाचार को सीमा भंगिमा के रूप में वार्णित किया जा सकता है। हम अस्वीकार की मुद्रा की बात नहीं कर रहे हैं। हमें सीमा के बाहर-भीतर होने के विकल्पों से परे जाना है। हमें सीमाओं पर खड़े होना है। आलोचना वास्तव में सीमाओं के विश्लेषण और उसपर विचार - मंथन का नाम है। किन्तु यदि कांट के समक्ष प्रश्न यह था कि ज्ञान को किन सीमाओं का अतिक्रमण करना है, तो, मुझे लगता है, आज के सबसे नाजुक सवाल को हमें थोड़ा और सकारात्मक बनाना होगा, अर्थात, जो आज हमारे लिए सार्वजानिक , आवश्यक , बाध्यकारी है, ओर जो कुछ भी एकांतिक, आकास्मिक और अनियमित बन्धनों की उपज है, उसका स्थान क्या है। संपेक्ष में, कहना यह है कि आवश्यक सीमाबद्धता के रूप में जो समीक्षा की गई है, उसे रूपान्तारित करना है व्यावहारिक समीक्षा में, जो संभाव्य अतिक्रमण में मूर्तमान हो सके।

इसका एक प्रत्यक्ष परिणाम है: कि समीक्षा अब सार्वजानीन मूल्यों से युक्त औपचारिक संरचनाओं की खोज के रूप में नही, बल्कि उन घटनाओं की ऐतिहासिक गवेषणा के रूप में अमल में आएगी, जिनसे हम गठित हुए हैं और हम जो कर रहे हैं, कह रहे हैं उसके कर्ता के रूप में पहचाने गए हैं। इस अर्थ में, यह समीक्षा अनुभवातीत नहीं है, और इसका लक्ष्य आधिभौतिकी को संभव बनाना नहीं है। यह समीक्षा अपनी योजना वंशक्रमशास्त्रीय (genealogical) ओर प्रणाली में पुरातात्विक (archaeological) है। यह पुरातात्विक है और अनुभावतीत नहीं इस अर्थ में कि यह समस्त ज्ञान की या हर संभव नैतिक आचरण की सार्विक संरचना की पहचान करने की कोशिश नहीं करेगी, बल्कि हम सोचते, कहते और करते हैं, उनको अभिव्यक्ति करने वाले विमर्श के उदाहरणों को अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के रूप में समझने की कोशिश करेगी ओर यह समीक्षा इस अर्थ में वंशक्रमशास्त्रीय होगी कि यह निगमित नहीं करेगी कि हमारे लिए क्या करना और क्या जानना आवश्यक है। बल्कि जिन आकस्मिकताओं से हमारा निर्माण हुआ है, उनमें इस संभाविता को अलग करेगी कि हम जों है, जो करते हैं और सोचते हैं, वह अब नहीं होंगे, नहीं करेगे या नहीं सोचेंगे । यह समीक्षा आधिभौतिकी, जो अंतत: विज्ञान का रूप ले चुकी है, को संभव बनाने का प्रयत्न नहीं करेगी। बल्कि, यह स्वातंत्र्य के अपरिभषित कार्य को जहां तक संभव है, नया बल प्रदान करने का प्रयत्न करेगी।

1. किन्तु यदि हमें अभिपुष्टि या स्वातंत्र्य के खोखले स्वप्न से संतुष्ट नहीं होना है, तो मुझे लगता है कि इस ऐतिहासिक-समीक्षात्मक भंगिमा को अवश्य ही प्रयोगिक होना होगा। मेरा मतलब है कि हमारे अस्तित्व की सीमाओं पर किया गया यह कार्य एक तरफ तो ऐतिहासिक जांच-पड़ताल के क्षेत्र में अवश्य ही खोल

45

देगा ओर दूसरी तरफ, इसे स्वयं भी यथार्थ, समकालीन यथार्थ की परीक्षा से गुजरना होगा, यह जानने के लिए कि वे बिन्दु कौन से हैं जहां बदलाव सम्भव और वांछनीय हैं, और यह तय करने के लिए कि उन परिवर्तनों का सटीक रूप क्या हो। इसका अर्थ है कि हमारे स्वयं की ऐतिहासिक सत्ता-मीमांसा को अपना ध्यान उन समस्त कार्यपरियोजनाओं से अवश्य हटा लेना होगा, जो अपने आपको वैश्विक या रैडिकल होने का दावा करती हैं। दरअसल, हम अनुभव से जानते हैं कि समसामयिक यथार्थ की प्रणाली से छूट निकलने का कोई भी दावा, ताकि एक अलग समाज, सोचने का एक अलग तरीका, एक अलग संस्कृति और दुनिया के लिए एक अलग विज़न के मुकम्मल कार्यक्रम बनाये जा सकें, सबसे खतरनाक परंपराओं की वापसी तक ही पहुंचा है।

मैं तरजीह देता हूं उन विशिष्ट रूपांतरणों को जो पिछले बीस वर्षो में निश्चित क्षेत्रों में सम्भव हुए हैं, और जो हमारे होने ओर सोचने के तौर तरीके से सम्बन्धित हैं। परिवर्तन जो सत्ता से हमारे रिश्तों, स्त्री पुरूष के रिश्तों, बीमारी तथा विक्षिप्तता की हमारी समझ के तरीके से सम्बन्धित हैं। मैं तरजीह देता हूं उन आंशिक रूपान्तरणों को भी जो ऐतिहासिक विश्लेषण तथा व्यवहारिक रवैयों के परस्पर संबंध में घटित हुए हैं, नए मानव के निर्माण के उन कार्यक्रमों की तुलना में जिन्हें पूरी बीसवीं शताब्दी के दौरान सबसे बुरी राजनैतिक व्यवस्थाओं ने लगातार दुहराया है।

इस तरह, मैं मानव जाति की समीक्षात्मक सत्ता-मीमांसा के लिए उपयुर्क्त दार्शानिक लोकाचार को सीमाओं के ऐतिहासिक-व्यावहारिक मापदंड के रूप में वार्णित करूंगा, ऐसी सीमाएं जिनके पार हम जा सकते हैं। और इस प्रकार उस दार्शानिक लोकाचार को मैं स्वतंत्र प्राणियों के रूप में अपने द्वारा अपने ऊपर किये गये की तरह वार्णित करूंगा।

1. तब भी, नि:संदेह निम्नलिखित एतराज पूरी तरह जायज़ होगा यानी कि, यदि हम स्वयं को हमेशा इसी तरह के आंशिक और स्थानीय अन्वेषण या परीक्षण तक सीमित रखते हैं तो क्या हम और व्यापक सामान्य संरचनाओं, जिनके बारे में बेहतर रूप से सचेतन न हों, और जिनके ऊपर हमारा कोई नियंत्रण न हो, के द्वारा स्वयं को निर्णायक तौर पर नियंत्रित किए जाने का खतरा नहीं उठते हैं

यह सत्य हैं कि हमें ऐसे किसी दृष्टिकोण को स्वीकार करने की आशा छोड़ देनी होगी जो हमें उन चीजों के किसी पूर्ण और निश्चयात्मक ज्ञान तक पहुंचा सके जिनसे हमारी ऐतिहासिक सीमाओं का निर्माण होता है और इस दृष्टिकोण के मुताबिक अपनी सीमाओं के बारे में और उनसे आगे जाने की सभ्भावनाओं के बारे में हमारे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अनुभव हमेशा सीमित और निर्धारित हैं। इस तरह, हम हमेशा फिर से शुरू करने की स्थिति में होते है।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि अव्यवथा और आकस्मिता के आधार के बिना कोई काम हो ही नहीं सकता। जिस काम का यहां जिक्र हैं, उसमें एक व्यापकता है, योजनाबद्धता है, समांगता है, और यह कि दांव पर लगा क्या हैं?

1. दांव पर लगा क्या है?

इनका संकेत जिससे मिलता है उसे "क्षमता ओर सत्ता के रिश्तों का विरोधाभास” कहा जा सकता है। हम जानते हैं कि अट्ठारहवीं सदी, या उसके एक हिस्से का यह महान आश्वासन या महान आशा थी कि व्यक्ति एक दूसरे के सापेक्ष समानुपातिक और साथ ही साथ विकसित होंगे। और, इसके आगे, हम देख सकते हैं कि समस्त पश्चिमी समाजों में क्षमताओं की प्रप्ति तथा स्वतंत्रता के लिए संघर्ष पश्चिमी समाजों

46

के समूचे इतिहास के स्थायी तत्व है। शायद इसी में उनकी विशिष्ट ऐतिहासिक नियति की जडे स्थित हैं - ऐसी विलक्षण नियति जो अपने यात्रा पथ में दूसरों से इतनी भिन्न, इतनी सार्वजनीन, और अन्य के सापेक्ष इतनी प्रभुत्वकारी है। लेकिन क्षमताओं के विकास तथा स्वायत्तता के विकास के बीच रिश्ते इतने सुगम नहीं हैं, जितना अट्ठारहवीं सदी में विश्वास किया गया था। और हम जानते हैं कि विभिन्न तकनोलोजी द्वारा किस प्रकार के शक्ति- संतुलन पैदा हुए - अनुशासन, सामुदायिक और व्यक्तिगत, राज्य की शक्ति के नाम पर थोपा गया मानकीकरण, समाज या जनसंख्यक क्षेत्र की मांगे, इसके उदाहरण हैं। तब दांव पे लगा क्या है? वह, यह है कि - किस तरह क्षमताओं के विकास को गहराते सत्ता सम्बन्धों से अलग किया जा सकेगा?

1. समांगत (Homogeneity) यह हमें व्यावहारिक तंत्रों के अघ्ययन की ओर ले जायेगा, यहां हम मनुष्य के स्वयं के निरूपणों को, या उन दशाओं को, जो उनकी जानकारी के बिना उनको निर्धरित करती हैं, को संदर्भ के समांगी क्षेत्र के रूप में नहीं ले रहे हैं, बल्कि इस बात को ले रहे हैं कि वह क्या करता है, और कैसे करता हैं। अर्थात, हमारा संदर्भित क्षेत्र है तार्किकता के रूप, जो हमारे कार्य करने के तरीके को सुवव्यस्थित करते हैं (इसे तकनीकी पक्ष कह सकते हैं) तथा वह स्वंतत्रता जिसमें वह इन व्यावहारिक तंत्रों में कार्य करते हैं, दूसरों के कृत्यों पर प्रतिक्रिया करते हैं, व्यवहार के नियमों को एक सीमा तक संशोधित करते हैं (इसे इन व्यवहारों का रणनीतिक पक्ष कह सकते हैं) इस प्रकार इन ऐतिहासिक-समीक्षात्मक विश्लेषणों की समांगता व्यवहारों के क्षेत्र के तकनीकी और रणनीति पहलुओं द्वारा सुनिश्चित की जा सकती है।
2. व्यवस्थित होने का गुण : ये व्यावहारिक पद्धतियां तीन विस्तृत क्षेत्रों से अलग होती हैं - ये क्षेत्र हैं, चीजों पर नियंत्रण के सम्बन्ध दूसरों पर अभिक्रिया के संबंध तथा अपने स्वयं से सम्बन्ध । इसका अर्थ यह नहीं है कि ये तीन क्षेत्र एक दूसरे से बिल्कुल अलग हैं। यह सुविदित है कि चीजों पर नियंन्त्रण दूसरों के साथ सम्बन्धों पर निर्भर करता है। और दूसरों के साथ सम्बन्धों पर निर्भर करता है। और दूसरों के साथ सम्बन्धों से स्वयं के साथ सम्बन्ध की बात निकलती है, वैसे ही जैसे स्वयं के साथ सम्बन्ध से दूसरों के साथ सम्बन्धों की बात। परन्तु हमारे सामने तीन अक्ष हैं जिनकी विशिष्टता और जिनके अन्तर्सम्बन्धों का विश्लेषण हमें करना है। ये धुरियां हैं - ज्ञान की धुरी, सत्ता की धुरी और नैतिकता की धुरी। दूसरे शब्दों में, हमारी अपनी ऐतिहासिक सत्ता-मीमांसा को प्रश्नों की खुली श्रृंखला का उत्तर देना है। इसे असीम जांच पड़तालें करनी है, जिन्हें जितना हम चाहें बढ़ा सकते हैं या सुनिश्चित कर सकते हैं। लेकिन हमारी ऐतिहासिक सत्ता मीमांसा को इन प्रश्नों से जूझना पड़ेगा। व्यवस्थित रूप से ये प्रश्न हैं - हमारे अपने ज्ञान के विषय के रूप में हम कैसे निर्मित हुए हम ऐसे कर्त्ता के रूप में किस प्रकार बने हैं जो सत्ता सम्बन्धों को लागू करता है या उनकी अधीनता स्वीकार करता है। हम अपने स्वयं की अभिक्रियाओं के नैतिक कर्त्ता के रूप में कैसे निर्मित हुए हैं
3. व्यापकता : अंत में, ये ऐतिहासिक समीक्षात्मक तहकीकात नितांत विशिष्ट हैं, इस अर्थ में कि वे हमेशा एक पदार्थ, एक युग, निर्धारित व्यवहारों और विमर्शो के एक निकाय से सम्बन्धित हैं। फिर भी, कम से कम पश्चिमी समाजों के स्तर पर, जहां से हम आते हैं, इनमें एक व्यापकता है - इस अर्थ में कि ये हमारे समय में बार-बार उभरते हैं। उदाहरण के लिये, मानसिक सन्तुलन और असन्तुलन या बीमारी और स्वास्थ्य या जुर्म और कानून के बीच सम्बन्धों की समस्या पर या जेण्डर सम्बन्धों की भूमिका की समस्या पर, ऐसे अन्य विषयों पर तहकीकात ।

47

लेकिन इस व्यापकता की बात उठाकर मैं यह सुझाव नहीं दे रहा हूं कि इसे आधि-ऐतिहासिक काल-सातत्य में ढूंढा जाए, और न यह कि इसके अलग-अलग रूपों का अध्ययन किया जाए। जिस बात को हमें समझना है, वह यह है कि जिस सीमा तक हम इस व्यापकता को जानते हैं, सत्ता के रूप जो इसके अन्तर्गत चरितार्थ होते हैं और इसके अन्तर्गत अपने बारे में जो हमारे अनुभव हैं - वे कुछ नहीं हैं सिवाय निर्धारित ऐतिहासिक चीजों के, जो उस समस्याकरण के निश्चित स्वरूप से निर्धारित होती है जो वस्तुओं, क्रिया के नियमों और खुद से रिश्ते के स्वरूपों को परिभाषित करता है। समस्याकरण के रूपों के अध्ययन जो कि न तो नृविज्ञानीय स्थिरांक है और न कालक्रामिक रूपान्तरण का, इस प्रकार, अर्थ है - व्यापक महत्व के प्रश्नों का उनके विशिष्ट रूपों में विश्लेषण करना।

बात को समेटते हुए और कांट की ओर वापस लौटते हुए सारसंक्षेप रखना उचित होगा।

मैं नहीं जानता कि हम लोग कभी परिपक्व वयस्कता की स्थिति में पहुंच भी पायेंगें। अपने अनुभव की कई चीजों से हुए जानते हैं कि प्रबोधन की ऐतिहासिक घटना ने हमें परिपक्व वयस्क नहीं बनाया था, और अभी भी हम उस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सके हैं। लेकिन मुझे लगता है कि वर्तमान पर और स्वयं पर उस आलोचनात्मक जांच-पड़ताल को एक अर्थ दिया जा सकता है जिसे कांट ने प्रबोधन पर चिन्तर करते हुए सूत्रबद्ध किया था। दार्शनिक चिन्तन का एक तरीका है जिसका महत्व या जिसकी प्रभावकारिता पिछली दो शताब्दी के दौरान कम नहीं हुई है। निश्चित रूप से, मानवता की समीक्षात्मक सत्ता-मींमासा को न तो एक सिद्धान्त के रूप में, न मत के रूप में और न एक ऐसे स्थाई ज्ञान के रूप में समझा जा सकता है जो लगातार बढ़ता जा रहा है। इसे समझना होगा एक भंगिमा के रूप में, एक लोकाचार के रूप में, एक दार्शनिक जीवन के रूप में, जिसमें, हम क्या हैं, की समीक्षा एक ही साथ हमारे ऊपर थोपीं गई सीमाओं का ऐतिहासिक विश्लेषण है और उन सीमाओं के पार जाने की संभावना से युक्त एक प्रयोग भी।

इस दार्शनिक भंगिमा को विभिन्न तहकीकात के श्रम में बदलना है। इन तहकीकातों में उन व्यवहारों के एक साथ पुरातात्विक और वंशक्रमागत अध्ययन के रूप में प्रणालीगत संगति है, जिन्हें एक साथ तार्किकता के एक तकनीकी प्रकार और स्वतंत्रताओं के रणनीतिक खेलों के रूप में देखा जा सकता है। उनकी सैद्धांतिक संगति ऐतिहासिक तौर पर विशिष्ट उन स्वरूपों की परिभाषा में हैं जिनमें वस्तुओं से, दूसरों से, अपने आप से, हमारे सम्बन्धों की व्यापकता का समस्याकरण हुआ है। ऐतिहासिक-आलोचनात्मक चिन्तन को ठोस व्यवहारों की कसौटी पर कसने की प्रक्रिया में बरती गई सावधानी में उनकी व्यावहारिक संगति है। मैं नहीं जानता कि यह कहना अनिवार्य है कि केन्द्रीय कार्यभार प्रबोधन में आस्था की मांग करता है। मैं अभी यह सोचता हूं कि यह कार्यभार हमारी अपनी सीमाओं पर काम करने की मांग करता है, अर्थात, स्वतंत्रता के लिए हमारी अधीरता को साकार करने के लिए धैर्यवान श्रम की मांग करता है।

(अनुवाद: सुरेन्द्र राही)

48

# वर्तमान का अन्तर्वेध

यूर्गेन हेबरमास

फूको की अनपेक्षित और आकस्मिक ढंग से हुई मौत ने सबको यह सोचने पर मजबूर किया कि उसकी मृत्यु की परिस्थितियां और निर्मम घटनाक्रम इस दार्शानिक के जीवन चेतना को प्रतिबिम्बित करते हैं। एक समयान्तराल के बाद भी यह दिखता है कि इस 57 साला शख्स की मौत एक असामयिक घटना थी जो समय की निर्मम ताकत की पुष्टि करती है। असलियत की ताकत की यही वह स्थिति है जो बिना किसी बोध या हार-जीत की अवधारणा के प्रत्येंक मानवीय जीवन के लम्बे समय के अनुभव से निर्मित अर्थ पर हावी हो जाती है। सीमितता (finiteness) का अनुभव दरअसल फूको के लिए दार्शानिक स्तर पर उत्तेजित करनेवाला मसला था। आकस्मिकता की इस सत्ता (power of contingency) को समग्र सत्ता के रूप में फूको ने चिहिन्त किया । और इसके लिए उन्होंने दरअसल ईसाई चिन्तरधारा (frame of reference) के बजाय स्टोइक (प्राचीन यूनान का वह दार्शनिक पंथ जो सुख-दुख से निर्लिप्तता की बात करता था। 1-सं.) दार्शनिक रूख का इस्तेमाल किया । और इसके बावजूद फूको में हमें ऐसे प्रेक्षक की निर्लिप्त वृत्ति के दर्शन होते हैं जो वस्तुनिष्ठता से अभिभूत होकर प्रेक्ष्य से आपना निश्चित फासला बनाये रखते थे, लेकिन इसके साथ ही उनके अन्दर भावावेश में ऐतिहासिक क्षण की वास्ताविकता में डूब जाने वाला तत्व भी शामिल था।

49

मै फुको से पहली बार 1983 में मिला और आज शायद कह सकता हूं कि दरअसल उन्हें ठीक से समझ नहीं सका। मैं इतना ही बता सकता हूं कि मुझे किस चीज ने प्रभावित किया । वह था एक तनाव जिसे आसानी श्रेणीबद्ध नहीं किया जा सकता। एक तरफ वस्तुनिष्ठता की तलाश में निकल पडे विद्वान का लगभग प्रशान्त वैज्ञनिक आत्मसंयम ओर दूसरी तरफ नैतिक तौर पर संवेदनशील, मनोगत तौर पर उत्तेजित बुद्विजीवी की राजनीतिक जीवंतता। मैं कल्पना करता हूं कि फूको अभिलेखागारों को उसी हठीलेपन के साथ खंगालते थे गोया कोई जासूस किसी सबूत की तलाश में निकल पड़ता हो । मार्च 1983 में फूको ने सुझाव रखा कि हम काण्ट के दौ सौ साल पुराने निबन्ध Answering The Question: What IsEnlightenement ? पर चर्चा की करने के लिए चन्द अमेरिकी सहयोगियों के साथ एक निजी कॉन्फेन्स में मिलें । उस वक्त मुझे इस बात का कतई अन्दाजा नहीं था कि फूकों इस विषय पर कोई व्याख्यान की तैयार कर रहे हैं। स्वाभाविक था कि मुझे यह लगा कि यह निमन्त्रण दरअसल आधुनिक दार्शनिक विमर्श की एक तरह से नींव डालने वाले उपरोक्त ऐतिहासिक आलेख के बहाने आधुनिकता के कई कोणों से अर्थापन (interpretation) के लिए हृयूबर्ट द्रेफ्यू (Hubert Dreyfus), पॉल रॉबिनो (Rabinow), रिचर्ड रोरटी (Rorty) और चार्ल्स टेलर के साथ चर्चा करने का प्रस्ताव था। हांलाकि इस प्रस्ताव के पीछे फूको का महज इतना ही इरादा नहीं है यह बात मुझे मई 1984 में समझ में आयी जब उनके व्याख्यान का एक अंश प्रकाशित हुआ।

यहां हमारा साबका फूको के ‘द ऑर्डर ऑफ थिग्ज’ के जरिये परिचित उस ज्ञानमीमासांकार काण्ट से नहीं होता है, सीमितता के जिसके विश्लेषण ने मानववैज्ञनिक चिन्तन और मानवविज्ञानों के युगक के द्वार खोले थे। इस व्याख्यान में हम एक दूसरे कांट से मिलते हैं। युवा हेगेलवादियों के पूर्ववर्ती कांट, जो अपनी आधिभौतिक (metaphysical) विरासत से विच्छेद करने में अग्रणी हैं, जो सत्य और चिरन्तर से दर्शन को अलग कर रहे हैं और दर्शन ने जिसको अब तक निरर्थक और अनुपस्थित माना उस आकस्मिक (accidental) और अनित्य (transitory) पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। फूको इस कांट में अपने ऐसे समकालीन को ढूंढते हैं जो गूढ़ दर्शन को वर्तमान की ऐसी आलोचना में तब्दील करता है जिससे ऐतिहासिक पल की चुनौती का माकूल जबाव दिया जा सके। ‘प्रबोधन क्या है’ इस प्रश्न के कांट के जवाब में फको को वास्ताविकता की सत्तामीमांसा (Ontology of Actuality) का स्रोत (Origin) दिखाई देता है जो हेगेल, नीत्शे, मैक्स बेबर से गुजरता हुआ होर्खाइमर और अदोनों तक पहुंचता है। दिलचस्प बात यह है कि इस व्याख्यान के अन्तिम वाक्य में फूको खुद को इसी परम्परा से जोड़ते हैं।

फूको कांट के 1784 के इस आलेख को उन्हीं द्वारा लिखे गये (और 14 साल बाद प्रकाशित हुए) ‘दि डिसप्यूटर ऑफ द फॅकल्टीज’ शीर्षक के दूसरे निबन्ध से जोड़कर देखते हैं जिसमें कांट फ्रान्सीसी क्रान्ति की घटनाओं पर गहन चिन्तन कर रहे हैं। दर्शन का अनुशासन(Faculty) और विधि के अनुशासन के बीच का यह विवाद दरअसल इस प्रश्न से जुड़ा है कि मानव प्रजाति धीरे-धीरे प्रगति की ओर बढ़ रही है या नहीं। फिलॉसाफी ऑफ एथिक्स नीतिशास्त्र का दर्शन शीर्षक आलेख में कांट उस अन्तिमबिन्दु (endpoint) को स्पष्ट करते हैं जिनके सन्दर्भ में इस प्रगति को नापा जा सकता है । एक गणतंत्रात्मक (Republican) संविधान आन्तरिक या बाहरी तौर पर न्याय के राज को सुरक्षित करने तथा स्वनिर्मित नियमों के तहत नागरिकों की स्वायत्तता की गांरटी करने के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के दायरे से युद्ध की समाप्ति की गारण्टी करेगा। कांट इस ‘विशुद्ध व्यावहारिक तर्कबुद्धि (Reason)’ की पूर्वधारणाओं के लिए आनुभाविक (Empirical) आधार की तलाश करते हैं ताकि यह दिखाया जा सके कि ऐतिहासिक

50

तौर पर नजर आनेवाली मानव प्रजाति की ‘नैतिक प्रवृति’ इसे पुष्ट करती है। ‘अपने समय की घटना’ की उनकी तलाश यही उजागर करने के लिए है की नैतिक सुधार की दिशा में मानवीय स्वभाव उन्मुख रहता है। और जैसा कि सर्वविदित है, उन्हें यह ‘ऐतिहासिक सूचकांक’ खुद फ्रान्सीसी क्रान्ति में नहीं मिलता है बल्कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों की अमल की दिशा में प्रयास के तौर पर व्यापक जनता द्वारा उसके प्रति दिखाये गये भारी उत्साह में मिलता है । कांट का मानना है कि ऐसी परिघटना को भूला नहीं जा सकता है क्योंकि ‘ऐसी घटना बहुत बड़ी है, जो मानवता के हितों के साथ इतनी अन्तगुन्थित होती है कि दुनिया के लोग उसे भूल नहीं करते सकते और जहाँ-जहाँ स्थितियां अनुकूल होती है वहां इस किस्म के नये प्रयासों को प्रेरित करता है।‘

फूको इन मशहूर उद्धकणों को अपनी तरफ से “नैतिक अच्छाई करने की इच्छा” के बिना नही उठाते। प्रबोधन पर अपने पहले के आलेख में कांट इस बात को रेखांकित करते हैं कि क्रान्ति ‘चिन्तन में वह वास्तविक सुधार नहीं ला सकती जिसको वे ‘दि डिसप्यूट ऑफ द फैकल्टीज’ शीर्षक निबन्ध में सुस्पष्ट करते हैं। वे दूसरे लेख में यही जोर देते हैं कि ऐसा क्रान्तियों के प्रति उमड़े उत्साह में ही चरितार्थ होता है जो हाल ही में सम्पन्न क्रान्ति से भी स्पष्ट है। फूको दोनों निबन्धों को इस तरह जोड़ते हैं कि एक सारसंक्षेप (Synopsis) सामने आता है। इस परिप्रेक्ष्य के तहत ‘प्रबोधन क्या है’ यह प्रश्न ‘प्रस्तुत क्रान्ति से हमारे लिये क्या अभिप्रेत है’ इस सवाल के साथ धुलमिल जाता है। समसामयिक ऐतिहासिक यथार्थ से प्रेरित चिन्तन के साथ दर्शन बहुत सफलतापूर्वक एकरूप हो जाता है। शाश्वत सत्य में ढला दृष्टिकोण प्रदत क्षण (given moment) के विवरण में समाहित हो जाता है जिसमें निर्णय और अपेक्षित सम्भावनाओं का विस्फोट निहित होता है।

इस तरह, फूको कांट को ऐसे प्रथम दार्शनिक के तौर पर खोजते हैं, एक ऐसे धनुर्धर के तौर पर जो वर्तमान की सबसे वास्तविक विशिष्टताओं पर शरसन्धान करता है और इस तरह आधुनिकता के विमर्श की नींव डालता है। प्राचीनों की अभूतपूर्व सर्वोत्कृष्टता और आधुनिकों के तुलनात्मक कद को लेकर क्लासिकीय विवाद को कांट पीछे छोड़ते हैं। इसके बजाय वे निदानसूचक चिन्तन (diagnostic thought) का - जिनके जरिये उनके जिम्मे एक नया कार्यभार आता है - का इस्तेमाल करते हैं। गौरतलब है कि आत्माश्वासन की यह उथलपुथल भरी प्रकिया नयी ऐतिहासिक चेतना के क्षितिज को उदघाटित करती है जिसने आधुनिकता को आज तक गतिमान रखा है। यथार्थ से मुखातिब दर्शन वास्तव में आधुनिकता के स्वयं उसके सम्बन्ध पर केन्द्रित है। होल्डरलीन और युवा हेगेल, मार्क्स और युवा हेगेलवादी, बोदलेअर (Baudelaire) और नीत्शे, बाताई (Bataille) ओर अतियथार्थवादी (Surrealists), ल्यूकाच, मेरलो-पोन्ती (Merleau-Ponty), आम तौर पर पश्चिमी मार्क्सवाद के पूर्ववर्ती और आखिरी में फूकों स्वयं, ये सभी “प्रबोधन क्या हैं?” इस सवाल के साथ दर्शन में उपसस्थित हुई समसामयिकता की आधुनिक चेताना को ढालते हुए दिखते हैं। दार्शनिक इस तरह समकालीन हो जाता है, वह निर्वैयक्तिक उद्यम की गुमनामी से मुक्त होता है, और खुद को हाड़ माँस वाले ऐसे जीवित व्यक्ति के रूप में पेश करता है जिसके लिए उसके समक्ष में खड़ी हर समकालीन चुनौती की जांच पड़ताल जरूरी है । सिंहावलोकन करते हुए भी यही दिखता है कि प्रबोधन का काल उसी तरह उपस्थित होता है जिस तरह उसने खुद को प्रस्तुत किया था। वह एक ऐसी आधुनिकता में प्रवेश का सूचक दिखता है जो अपनी आत्मचेतना और अपनी मर्यादाओं का निर्माण अपने अन्तर से ही रचने के लिए अभिशप्त हैं।

51

यह भले ही फूको की अपनी विचाराधारा चिन्तनधारा का भावानुवाद लगे, लेकिन फिर भी प्रश्न उभरता है कि किस तरह यह आधुनिक दर्शनीकरण (philosophisation) की एकमात्र सकारात्मक समझ जो हमारी अपनी वास्तविकता की ओर उन्मुख है और वर्तमान पर गहरे रूप में अंकित है, फूको की आधुनिकता की समझौताविहीन आलोचना के साथ मेल खाती आलोचना के साथ मेल खाती है? किस तरह प्रबोधन की परम्परा के ही चिन्तक के तौर पर फूको की आत्मसमझदारी आधुनिकता के इसी किस्म के ज्ञान की अचूक आलोचना के अनुकूल बैठती है?

कांट का इतिहास दर्शन, स्वतंत्रता की स्थिति, विश्व नागरिकता और शाश्वत शन्ति के बारे में उसका आंकलन, ‘बेहतरी की दिशा में ऐतिहासिक प्रगति, के तौर पर क्रान्ति पर क्रान्तिकारी उत्साह की उसकी व्याख्या क्या इस दर्शन की एक-एक पंक्ति सत्ता (Power) के सिद्धान्तकार फूको के तिरस्कार का निशाना नहीं बनती ? पुरातत्वविज्ञानी फूको की संयमी दृष्टि के अन्तर्गत इतिहास एक ऐसे हिमशैल की तरह नज़र नहीं आता जिस पर विमर्श की मनमानी संरचनायें स्फटिक के तौर पर बिखरी पड़ी हों। (फूको के मित्र पॉल वेने (Veyne) कम से कम ऐसा ही सोचते हैं।) और क्या इस हिमशैल का, जिस पर फूको नामक वंशविज्ञानी (genealogy) की निन्दक आंखें गड़ी प्रतीत होती हो, गतिविज्ञान आधुनिकता के यथार्थवादी चिन्तन द्वारा माने गये गतिविज्ञान से बहुत अलग नहीं है - यानि कि अधीनीकरण की उन अनाम प्रक्रियाओं का निरर्थक दोहराव जिसमें सत्ता और महत सत्ता ही लगातार बदलते रूपों में अभिव्यक्ति होती है। कांट के उदाहरण का इस्तेमाल करते हुए क्या फूको ने ‘द ऑर्डर ऑफ थिंग्स’ में सत्य की इच्छा (Will to truth) की उस विशिष्ट गातिकी को उजागर नहीं किया था जो ज्ञानोत्पादन की वृद्धि और उसकी असफलता से पैदा हुई हताशा से पुन:प्रेरित होती है? आधुनिकता के ज्ञान का स्वरूप इस सन्देह से चिन्हित होता है। संज्ञानात्मक कर्ता स्वसन्दर्भित होकर आधिभौतिकी के खंडहरों से अपनी सीमित ताकत के प्रति पूरी जागरूकता के साथ उठता है ताकि उस परियोजना को पूरा कर सके जो असीमित ताकत की मांग करती है। जैसा कि फूको दर्शाते है, कांट इस सन्देह को अपनी ज्ञानमीमांसा के संरचनात्मक सिद्धान्त में तब्दील करते हैं। वह अपने संज्ञान के परिमित उपकरण की सीमाओं का असीमित प्रगति की ओर उन्मूख ज्ञान की अनुभुवातीत स्थितियों के रूप में पुन:अर्थापन करते हैं। इस तरह अपनी सीमाओं तक संरचनात्मक तौर पर कसा हुआ कर्ता ज्ञान के मानवकेन्द्रित प्रणाली में उलझ जाता है । और इस तरह पूरे क्षेत्र पर ‘मानव के विज्ञानों’ का कब्जा हो जाता है जिसे फूको प्रच्छन्न ढंग से संचलित अनुशासनत्मक सत्ता के तौर पर देखते हैं। कुछ भी हो, अपने आडम्बरी दावों से, जिनका किसी भी तरह निराकरण नहीं हुआ है, के जरिये उसने जो प्रस्तुत किया है वह है सार्वभौमिक स्वीकृत ज्ञान को खतरनाक चेहरा। वास्तव में इसके पीछे ज्ञान के प्रभुत्व की सच्चाई छिपी है जिसकी जड़ें सत्ता की इच्छा में है। इस असीमित ज्ञान की इच्छा के आलोक में ही आत्मपरकता और आत्मचेतना का उदय होता है जहां से कांट अपनी शुरूआत करते हैं।

अगर हम इन तमाम पहलुओं को ध्यान में रखते हुए फूको के पाठ की ओर लौटते हैं तो हम बहुत स्थूल अन्तविर्रोध के बरअक्स चन्द एहतियाती कदमों को नोट करते हैं। जाहिर है, प्रबोधन काल, जो आधुनिकता का शुभारंभ करता है, हमारे लिए महज विचारों के इतिहास का एक इच्छाहीन कालखण्ड नहीं है। हालांकि, फूको साफ तौर पर उन लोगों के श्रद्धालु रूख के खिलाफ चेतावनी देते हैं जो प्रबोधन के अवशोषों को बचाये रखना चाहते हैं। फूकों साफ तौर पर (भले ही वाक्यांशों के रूप में) प्रारम्भिक विश्लेषणों के साथ रिश्ता जोड़ते हैं। वह नोट करते हैं कि आज हमारा यह कार्यभार नहीं हो सकता

52

कि हम प्रबोधनद और क्रान्ति को अपने आदर्श मॉडल के रूप में रखे। उससे ज्यादा महत्वपूर्ण है उन विशिष्ट ऐतिहासिक चालक शक्तियों की जांच पड़ताल करना जो 18 वीं सदी के परवर्ती काल से सार्वभौमिक चिन्तन पर एक साथ छायी हैं और उनमें दबी भी रही हैं। फूको उन तमाम चिन्तकों को खारिज करते हैं जो एक अमूर्त व्यवस्था की खोज में कान्ट के ज्ञानमीमांसात्मक प्रश्न से प्रस्थान करते हैं। उन सार्वभैमिक स्थितियों की उनकी तलाश आज भी जारी दिखती है। जिसके तहत निश्चित प्रस्ताव (proposition) वास्ताविक में सच या झूठ हो सकते हैं। वे इस तरह ‘सच्चाई के विश्लेषण’ के बन्दी हो जाते हैं। इन सब एहतियात के बावजूद इसको देख कर आश्चर्य होता है कि फूको उन तमाम विद्रोही चिन्तकों को जो खुद की समकालीनता का अर्थापन करने की कोशिश करते हैं उन्हें कांटीय समीक्षा के वारिस के तौर पर प्रस्तुत करते हैं। वे अपने समय की बदली परिस्थितियों में कांट द्वारा पहली बार उठाये गये आत्माश्वासन की तलाश में प्रयासरत आधुनिकता के बुनियादी निदानसूचक प्रश्न को फिर दोहराते हैं। फूको खुद को इसी परम्परा के वाहक के रूप में देखते हैं। फूकों की चुनौती उस मर्म को समझना है जो कांट के आलेखों में फ्रान्सीसी क्रान्ति, यानि ज्ञान की इच्छा, के प्रति उत्साह में निहित है, उसे ‘सत्य का विश्लेषण’ स्वीकार करने को तैयार नहीं है। अब तक फूकों ने ज्ञान के प्रति इच्छा को आधुनिक सत्ता संरचना में तलाशा हैं, उसे खारिज करने के लिये ही। अब हालांकि वह उसे बिल्कुल अलग रोशनी में प्रस्तुत कर रहे हैं। उनके हिसाब से वह एक ऐसा विवेचनात्मक आवेग है जिसे बनाये रखना चाहिये तथा उसकी नवीनीकरण भी करना चाहिये । यह प्रक्रिया उनके अपने चिन्तन को आधुनिकता के प्रारंभ से जोड़ती है।

हमारे समय की पड़ताल में संलग्न मेरी पीढ़ी के दार्शनिकों के समूह में से फूकों के बारे में यही कहा जा सकता है। कि उसने हमारी युगचेतना को स्थायी तौर पर प्रभावित किया । वैसे यह महज इस वजह से नहीं है कि काफी गम्भीरता से सृजनात्मक अन्तविरोधों के तहत संजीदगी के साथ प्रयासरत हैं। जटिल चिन्तन ही शिक्षाप्रद अन्तर्विरोधों को जन्म देती है। कांट खुद ऐसे ही शिक्षाप्रद अन्तर्विरोधों से जूझते रहे जब उन्होंने क्रान्तिकारी उत्साह को एक ऐतिहासिक संकेतक के तौर पर घोषित किया, जो परिघटना की दुनिया में इन्सानियत के बोधगम्य विन्यास को उजागर करता है। उतना ही विलक्षण है वह अन्तर्विरोध जिससे फको स्वयं उलझ जाते हैं। वह सत्ता की आलोचना को ‘सच्चाई के विश्लेषण’ के बरअक्स इस तरह रखते हैं कि सत्ता की आलोचना उन आदर्शत्मक (normative) पैमानों से वंचित हो जाती हैं जिन्हें वह सत्य के विश्लेषण से ही प्राप्त करती है। सम्भव है कि इस अन्तर्विरोध का यही दबाव है जिसमें फूको स्वयं अपने अन्तिम लेखों में उलझ गये प्रतीत होते हैं। नतीजतन वे आधुनिकता के उसी दार्शानिक विमर्श की ओर खिंचते गये जिसमें भूचाल लाने की उनकी ख्वाहिश थी।

(अनुवाद : सुभाष)

53

# परिपक्वता क्या है?

## प्रबोधन क्या है' के बारे में हेबरमास और फूको

ह्मूबेयर एल. द्रेफ्यू और पॉल रैविनो

दो साल पहले, 1784 में, बर्लिन के अखबार के द्वारा पूछे गये प्रश्न- ‘प्रबोधन क्या है?’ का कान्ट ने जवाब दिया था। उन्होंने प्रबोधन को तर्क माध्यम से परिपक्वता की प्राप्ति बताया। तब से समय-समय पर इस स्थापना के अर्थ पर बहस होती रही है। आज यह सवाल जनता के सामने इन दो विचारकों द्वारा फिर से प्रस्तुत किया गया है जो इस बहस के सही मायनों मे उत्तराधिकारी कहे जा सकते हैं। उनके विचार यद्यपि एक दूसरे के विपरीत हैं पर दोनों विचारकों ने अत्यंत गंभीर और विश्वसनीय तरीकों से तर्क और उपस्थित ऐतिहासिक क्षण के बीच के सम्बन्धों को उजागर करके दार्शनिक जीवन का पुनअर्थापन किया है। यह सवाल उन चिन्तविरोधियों (antithinkers) के लेखन की पृष्ठभूमि में भी रहता है जो, उत्तर प्रबोधन और उत्तर-आधुनिक विमर्श के नाम पर, प्राय: ‘गम्भीरता’ पर सवाल खड़ा कर देते हैं।

इस लेख का बड़ा हिस्सा ‘गम्भीरता’ के बारे में विवाद से सम्बान्धित है जिसने प्रबोधन के विरासत के सवाल पर मिशेल फूको और यूर्गेन हेबरमास को विपरीत दिशाओं में खड़ा कर दिया है। फूको की असामयिक मृत्यु ने उस उभरती हुई महत्वपूर्ण बहस को बीच में ही अवरूद्ध कर दिया जो समाज, आलोचनात्मक तर्क और आधुनिकता

54

के बीच के सम्बन्धों के रूप में उजागर हो रही थी। लेकिन यदि फूको जिन्दा भी रहते, तो भी इस बहस का सही संवाद बन पाना मुश्किल था क्योंकि दोनों विचारकों की इन पदों और उनके बीच के सम्बन्धों की समझ असंगत थी। यद्यपि दोनों समाज को किसी रूप में प्राथमिक मानते हैं, पर आधुनिक समाज क्या है और यह कैसा होगा - इस पर दोनों के गहरे मतभेद हैं। दोनों यह स्वीकार करते हैं कि आलोचनात्मक तर्क को समझना समकालीन दर्शन का एक आवश्यक कार्यभर है, लेकिन आलोचना और तर्क को वे एकदम भिन्न तरीके समझते हैं। और अन्त में, दोनों कांट से एकमत हैं कि ‘परिपक्वता’ आधुनिक युग का कार्यभार है, लेकिन हेबरमास और फूको की आधुनिकता और परिपक्वता की अवधारणांए स्पष्ट रूप से दूसरी की विरोधी हैं। और दोनों ही चिन्तनविरोधियों के विरोध में खडे हैं।

फूको ओर हेबरमास कांट से सहमत हैं कि आलोचनात्मक तर्क की शुरूआत ‘पश्चिम’ की उस परियोजना को खारिज करके होती है जो किसी ऐसे सिद्धांत को विकसित करना चाहता है जो मानव प्रकृति की ठोस सार्वजनीन सच्चाई को प्रतिबिंबित करता हो। फूको और हेबरमास कांट के इस बात से भी सहमत हैं कि इलहामी मज़हब और आधिभौतिकी के प्राधिकार की समाप्ति के बाद नैतिक कार्य और सामजिक बन्धन की समस्या से नये सिरे से जूझना पडेगा । दोनों सहमत है कि वयस्कता/परिपक्वता मतलब व्यक्ति द्वारा आलोचनात्मक विवेकबुद्धि के इस्तेमाल की जिम्मेवारी को स्वीकार करना है, और आलोचनात्मक विवेकबुद्धि का अर्थ हमारी सबसे प्रिय और आश्वस्तकारी मान्यताओं का निर्भीक परीक्षण है। इस प्रकार कांट ‘पश्चिम की समझदारी’ में हो रहे एक मौलिक परिवर्तन को चिन्हित कर सके जिसने उनके दर्शन को समसामयिक सन्दर्भ प्रदान किया।

इसके आगे की आलोचनात्मक तर्कबुद्धि, समाज और आधुनिकता के महत्व ओर उनके सम्बन्धों के बारे में में फूको और हेबरमास की व्याख्यायें आश्चर्यजनक रूप से भिन्न दिशाओं में ले जाती है। हेबरमास के लिए कांट की आधुनिकता तर्कबुद्धि की सीमाओं की पहचान से बनती है, यानी तर्कबुद्धि के उस, हठपूर्ण दावे को खारिज करने से बनती है कि वह अनुभवातीत वास्तविकता को प्रस्तुत करता है। कांट की परिपक्वता हमें दर्शाती है कि तर्क की आलोचनात्मक और अनुभवातीत शक्ति की रक्षा हम कैसे कर सकते हैं और इस प्रकार प्रबोधन की महान सफलता अंधविश्वास, रीति-रिवाज और निरंकुशता पर तर्कबुद्धि कि विजय - की रक्षा हम कैसे कर सकते हैं।

हेबरमास द्वारा कांट के दर्शन का नवीनीकृत रूप यह दावा करता है कि आलोचना-पूर्व के प्रयासों की तरह आधिभौतिक आधार प्रस्तुत करने की बजाय उन स्थितियों का विश्लेषण करना होगा जिनमें भाषा के सभी इस्मेमालों में पूर्वकल्पित आदर्श वाक्-समुदाय (ideal speech community) साकार होता है। हेबरमास का तर्क है कि सच्चाई की वैधता के लिए स्थितियों का यह विश्लेषण आलोचनात्म तर्कबुद्धि और सामजिक सरोकारों को जोड़ने का तरीका है और यह कांट की चुनौती का जवाब देता है। भाषा के संप्रेक्षाणात्मक इस्तेमाल का यह लेखा-जोखा मूलत: बुद्धिजीवीवादी है। हरेक को प्रमेयात्क विषय-वस्तु की वैधता, अभिप्राययुक्त अभिव्यक्ति (intentional expreesion) की सच्चाई या ईमानदारी और वाक्-क्रिया की सटीकता ओर उपयुक्तता के लिए दिये गये तर्को के आधार पर सही दावों पर के बारे में एकमत होना पड़ता है। भाषा के अविकृत इस्तेमाल के लिए आवश्यक इन सार्वभौम सामजिक स्थितियों का विश्लेषण वह प्रक्रियात्मक आदर्शकारी आधार (procedural normative criteria) मुहैया करता है जिससे हम सामाजिक संगठन का मूल्यांकन कर सकते हैं। हेबरमास के लिए अपरिपक्वता संप्रेषणात्मक

55

व्यवहार (communicative practice) में निहित मान्यताओं के सुस्पष्ट होते जाने को पहचानने या आगे बढ़ाने में असफलता है। अपरिपक्वता हमें चिन्तन (phronesis), कला और अलंकारशास्त्र (rhetoric) - यानी कि संप्रेषण और सहमति के तरीकों के खतरनाक प्रलोभनों में फंसने के लिए खुला छोड़ देती है, जिससे हेबरमास के अनुसार, हमारी संस्कृति आगे बढ़ चुकी है। परिपक्वता का मतलब दिये गये युग में सामजिक संगठनों द्वारा ग्रहण किये गये स्वरूप की स्पष्टता, मानव समुदाय को आगे बढ़ाने में उसकी उपयुक्ता का मूल्यांकन और जैसे वे हैं और जिस प्रकार उन्हें और उपयुक्त बनाया जा सकता है, दोनों की जिम्मेदारी को स्वीकारना है।

इस प्रकार, हेबरमास के लिए आधुनिकता की समस्या, जो कि एक विशिष्ट ऐतिहासिक समस्या है, हमारे अधिकांश विश्वासों की आधिभैतिक जमीन के खिसकते जाने का सामना करते हुए, कान्ट की प्रबोधन-आलोचना में अद्यतन और पूर्ण रूप से व्यक्त तर्क की प्राथमिकता का संरक्षण है। परिपक्वता समुदाय के उन अर्द्ध-अनुभवातीत आधारों की खोज है, जो आज मौजूद हैं और जिनकी हमें जरूरत है, दर्शन और मानवीय गरिमा के लिए ।

फूको, हेबरमास की तरह, यह स्वीकार करते हैं कि हमारी आधुनिकता की शुरूआत कांट के उस प्रयास से होती है जब वे तर्कबुद्धि को निर्णायक करार देते हैं, यानी की तर्क की सीमाओं की स्थापना और उनके वैध इस्तेमाल से। लेकिन कांट का यह दिखाने का प्रयास कि तर्कबुद्धि का आलोचनात्मक इस्तेमाल इसकी वास्तविक सार्वभौम प्रकृति है, फूकों के लिए न तो मौलिक है, महत्वपूर्ण। फूको यह अस्वीकार नहीं करते कि आधिभौतिकवाद के पतन के चलते कांट तर्कबुद्धि की आदर्शकारी भूमिका के संरक्षण का प्रयास कर रहे हैं। लेकिन कांट को किसी सार्वभौमिक हल प्रस्तुत करते हुए देखने की बजाय, फूको कांट के लेख का उपयोग एक विशिष्ट ऐतिहासकि मुकाम पर एक निदान की तरह करते हैं। फूको के अनुसार कांट के लेख की विशिष्टता और उसकी अन्तदृष्टि यह है कि किसी दार्शनिक ने पहली बार दार्शानिक की हैसियत से यह पहचाना है कि उसकी सोच उसकी ऐतिहासिक स्थितियों से पैदा होती है और उन्हीं स्थितियों का जवाब देने का प्रयास करती है। कांट के अनुसार सभी ‘मशीन के पुर्जे की तरह’ अपनी जगह और सामयिक, सामजिक और राजनीतिक मुद्दों पर सोचने की जिम्मेदारी ग्रहण कर लेते हैं। इन मुद्दों पर सोच केवल उसकी विषय-वस्तु से ही कोई तय नहीं करता, बल्कि इससे तय करता है कि वे प्रस्ताव सार्वभौम प्रक्रियात्मक या आलोचनात्मक तर्कबुद्धि को किस हद तक आगे बढ़ाते हैं। इस अनुभवातीत मोड़ के चलते अब कोई भी युग की गतिविधियों की आलोचना करने या उसे सही ठहराने कें लिए धर्म और/या आधिभौतिक आधारों को बहादुरी से छोड़ जाता सकता है। और इस तरह अपने समाज के स्वरूप के बारे में एक सार्वभौम, अनैतिहासिक, आदर्शवादी मूल्यांकन की संभावना को बरकारार रख सकता है, और साथ ही फ्रेडरिक की अत्यंत अनुशासित सेना का पक्षधर भी रह सकता है। फूको ने कांट के ऐतिहासिक मुकाम, आलोचनात्मक तर्कबुद्धि और समाज को जोड़ने के प्रयास की पुनर्व्याख्या किसी दार्शानिक जीवन जीने के अर्थ का नया मौलिक स्वरूप विकसित करने की चुनौती के रूप में की है।

हमारे खुद की आलोचनात्मक सत्तामीमांसा (ontology) को हमें निश्चित रूप से, एक सिद्धान्त या एक मत के रूप में नहीं, और न ही संग्रहीत हो रहे ज्ञान के स्थाई निकाय के रूप में लेना होगा, बल्कि इसे हमें एक प्रवृत्ति, एक स्वभाव, एक दार्शानिक जीवन के रूप में ग्रहण करना होगा, जिसमें एक छोर पर हम क्या हैं इसकी आलोचना होती है, और दूसरे छोर पर, साथ ही साथ, हमारे ऊपर थोपी गई सीमाओं का ऐतिहासिक विश्लेषण और उनसे आगे जाने की सभावना से युक्त एक प्रयोग होता है।"

56

इस आलोचनात्मक सत्तामीमासा के दो अलग-अलग लेकिन जुड़े हुए हिस्से हैं: पहला खुद पर कार्य करना और दूसरा अपने समय से मुखातिब होना।

खुद पर कार्य के आधुनिक उदाहरण के रूप में फूको बोदलेयर के उस छैले के तपश्चर्या की हिमायत का जिक्र करते हैं जिसमें ‘वह अपने शरीर, अपने व्यवहार, अपनी अनुभूतियों और मनोभावों, और अपने खुद के अस्तित्व से अपनी कला की रचना करता है।‘ फूको लिखते हैं – “बोदलेयर के लिए आधुनिक व्यक्ति वह नहीं है जो अपनी खुद की, अपने रहस्यों की और अपनी छिपी सच्चाइयों की खोज करता है, आधुनिक वह व्यक्ति है जो नये सिरे से खुद का आविष्कार करने की कोशिश करता है। यह आधुनिकता ‘व्यक्ति को अपने खुद के रूप में मुक्त’ नहीं करती। यह ‘अपने आप को गढ़ने की प्रक्रिया से रू-ब-रू होने का’ बाध्य करती है।“ उस छैले और उन अस्तित्वदियों की तरह फूको उस मत से प्रस्थान करते हैं जो धर्म, कानूनी और विज्ञान के मार्गदर्शन को त्याग देता है, और, साथ ही साथ, अपने ‘स्व’ (self) की गहरी सच्चाइयों को समझने के लिए, धर्म, कानून और विज्ञान अपनी-अपनी तरह से, जिस समपर्ण को बढ़ावा देते हैं उससे भी सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है।

फूको के अनुसार, कोई नीतिशास्त्र पूरी संस्कृति को बचाने की बात नहीं करती, और न ही आस्तित्वाद की तरह, व्यक्ति को उस प्रक्रिया से बचाने की बात करता है जिसे किर्केगार्ड ने वर्तमान युग का अव्युत्क्रमणीय समतलीकरण (irreversible levelling) कहा था। न ही आरम्भिक हाइडेगर की तरह फूको यह सोचते हैं कि मुनष्य के अस्तित्व की गहरी सच्चाई यह है कि कोई गहरी सच्चाई नहीं होती; और इसलिए परिपक्वता का अर्थ दुनिया में अपने अस्तित्व की आधारहीनता का सामना करना है। और उस सात्रीय आदर्श जिसमें अर्थप्रदायी-कर्त्ता (meaning giving subject) का अपने खुद की निरर्थकता से सामना होता है - का एक स्वर मौजूद होने के बावजूद फूको ने कभी भी हमारी वर्तमान स्थितियों को मानवीय परिस्थितियों में नहीं पढ़ा। और इसलिए नीतिशास्त्र को किसी पूर्वकल्पित सार्वभौम मानवीय यथार्थ में प्रामाणिक रूप से ढालने की कोशिश नहीं की। यह तो आरंभिक हाइडेगर, सार्त्र और हेबरमास की साझी परियोजना थी, जो परिपक्वता की पहचान मानवीय अस्तित्व के उन सार्वभौम ढाँचों की स्वीकृति में करती है जो पाश्चात्य दर्शन ने उजागर किये; और इसलिए मानव होने के अन्य तरीकों से तब तक समान धरातल पर संवाद अस्वीकार कर देती है जब तक वे यह स्वीकार कर परिपक्वता न हासिल कर लें कि ये स्थितियाँ सार्वभौमिक हैं। स्पष्ट तौर पर, फूको इस अवस्थिति को स्वीकार नहीं करते।

बोदलेयर और शुरूआती सार्त्र के लिए ‘स्व’ का अविष्कार समाज को नहीं बदलता, ज्यादा-से-ज्यादा उसका सामना करता है। लेकिन फूको ने अपने जीवन को अमर्यादित बनाना चाहते हैं, और न ही सीधे अनुसरण के लिए एक उदाहरण बनना चाहते हैं; बल्कि वर्तमान स्थितियों में जो भी असहनीय है उसका जवाब देना चाहते हैं। इसलिए कि एक सामान्य समस्या को रेखांकित कर सकें, और साथ ही, एक काम करने का ढंग प्रस्तुत कर सकें, जो सीमाओं की परख करके यह दिखा सके कि समाज के प्रकारों में अर्थपूर्ण विभेद मौजूद हैं और मनुष्य बनने के ऐसे रास्ते हैं जिनका विरोध करना होता है और ऐसे भी रास्ते हैं जिन्हें मजबूत करना होता है।

लेकिन हेबरमास प्रश्न करते हैं कि एक बार फूको परिपक्वता को इस तरह परिभषित करते हैं कि यह कानून, धर्म तथा विज्ञान के प्राधिकार, साथ ही साथ, दार्शानिकों द्वारा प्रस्तुत औपचारिक सार्वभौम दावों (formal universal claims) पर निर्भरता को समाप्त करना है, तो वे किस तरह ऐसे नैतिक

57

मूल्याकंन कर सकते हैं? हेबरमास के दृष्टिकोण में, बिना किसी वैधता के फूको का एक राजनीतिक सिद्धान्त प्रस्तुत करना अवश्य ही शुद्ध निर्णयवाद (decisionism) है।

हेबरमास अपने ‘लेक्चर्स आन फूको’ में इस मनमानी दिखनेवाली अवस्थिति को रेखंकित करते हैं। वे, एक तरफ फूको की गहरी नैतिक और राजनैतिक प्रतिबद्धताओं और, दूसरी तरफ, एक पुरात्ववेत्ता की हैसियत से हमारे समाज के अत्यत अर्थवत्तापूर्ण सरोकारों के प्रति आत्ममुग्ध अलगाव की दृष्टि अपनाने की क्षमता के बीच न हल होने वाले तनाव को रेखांकित करते हैं। फूको की वर्तमान के बारे में सूक्ष्म, जटिल पर अनपढ़ विडम्बनापूर्ण अवस्थिति किसी को भी विरोधाभासी नज़र आयेगी जो कांट से इस बात पर सहमत हो कि परम्परागत दार्शनिक गम्भीरता को कायम रखने के लिए तर्कबुद्धि की सीमओं की स्वीकृति से परिपक्वता की पहचान होती है। यह एक ऐसा मुद्दा है जिसपर फूको से हम कई बार बहस कर चुके हैं, और यह उनके जीवन औरउनकी रचना के केन्द्र के इतना करीब है कि वे प्राय: इस पर स्पष्ट नहीं होते। फिर भी, जैसा कि हम दिखाने की कोशिश करेंगे, फूको की यह व्याख्या कि वे आदर्शकारी लेकिन असिद्ध सैद्धान्तिक दावे करते हैं, साथ ही साथ, अतर्कपूर्ण राजनीतिक अवस्थिति अख्तियार करते हैं, (और कई बार फूको के साक्षात्कार और बातचीत में प्रतिध्वनित होती है), यद्यपि संभव है, लेकिन फूको के सामान्य खाके में फिट नहीं बैठती ।

जर्मन दर्शन के उत्तराधिकारी फूको की आलोचना मनमानेपन और आधारहीनता के लिए करते हैं, पर फ्रांस के उत्तर-दार्शनिक (और उनके अमेरिकी साहित्यिक-आलोचना वाले शिष्य) मनमानापन न करने का उनपर आरोप लगाते हैं। इस प्ररिप्रेक्ष्य में फूको ने एक समय भाषा और इच्छा की विद्रोही भूमिका को समझा, लेकिन जब वे सहजानुभूत व्यवहार और सत्ता-सम्बन्धों की रचनात्मक भूमिका के परीक्षण में जुटे, तो उनकी कृतियां अपने स्वरूप और विषय-वस्तु दोनों में स्पष्टता और विश्लेषण के पारम्परिक प्रतिमानों को खतरनाक ढंग से लगभग स्वीकारती दिखी। फिर भी हेबरमास का यह मत सही है कि फूको वास्तविकता निरूपण के लिए भाषा के इस्तेमाल के दार्शनिक परम्परा का निर्वाह नहीं करते, और न ही वे भाषा का इस्तेमाल अविकृत सम्प्रेषण (undistorted) के साधन के रूप में करते हैं। लेकिन, फूको खुद को आत्म-संदर्भित अर्थसूचकों (self-referentil signifiers) के मनमानेपन के भरोसे छोड़ने को तैयार नहीं है। जो यह समझते हैं कि भाषा हमारे द्वारा खुद से खुद के बारे में बोलती है, उन्हें ऐसा लगना तय है, जैसा कि लियो बर्सानी (Leo Bersani) ने हाल में इसी तरह की प्रवृति वाली भाषा में लिखा – “मानों वह लेखन की क्रिया में एक नयी कामुकतारहित सादगी की खोज कर रहा था ताकि किसी ऐसी भाषा, जो एक साथ उसकी एकदम करीबी और उससे एकदम अलग हो - द्वारा बंधे जाने, अन्दर पैठे जाने और अधिग्रहित होने की गहरी निराशा को टाल सके।“ वास्तव में, यह अपने पाठ के आत्मसन्दर्भ को, छुपाने के प्रयास को उजागर करता है। फूको पाठ का इस्तेमाल अन्य सामजिक व्यवहार के सराग की तरह करते हैं। वास्तव में, फूको प्लेटो-पूर्व साहित्यशस्त्रियों की तरह भाषा का इस्तेमाल हमें क्रियाशील बनाने वाली स्थितियों की समझदारी को स्पष्ट करने के लिए करते हैं।

‘द आर्डर थिंग्ज’ में ‘कोजिटो’ (देकार्त के प्रसिद्ध सूत्रवाक्य ‘Cogito Ergo sum' ‘- ‘मैं सोचता हूँ इसलिये मैं हूं’ संक्षेप - सं ) और ‘अनथाट’ (unthought) का विश्लेषण करते हुए फूको यह दिखा चुके हैं कि कैसे कोई दार्शानिक धारणा एक स्वतंत्र अर्थप्रदायी- कर्त्ता में अपने में अपने ही जटिल आधारों को अर्थ प्रदान करने के अनन्त कार्य में आवश्यक रूप से उलझ जाती है। वे स्पष्ट थे कि यह अनंत

58

कार्य ‘कोजिटो’ के प्रति प्रश्न खड़े करता जो। लेकिन ‘द आर्डर ऑफ थिंग्ज’ के रचनाकाल के दौरान फूको ने सुझाव दिया था कि निरूपण में जो अवरोध है, वहीं ससीमता के विश्लेषण के निस्तार की सम्भावना प्रस्तुत करता है। वे लंका (Lacan) के उस व्याख्या से सहमत हैं जिसके अनुसार “फ्रायड की मनोचिकित्सा उस क्षेत्र की खोज है” ... “जिस क्षेत्र में निरूपण असमंजय की अवस्था में रहता है” और जहाँ “...द्वन्द्व और नियम इच्छा के खुले उद्घाटन का आधार तैयार करते हैं।“ लेकिन अपने जीवन के अन्तिम दशक को फूको ने इस अवस्थिति पर पुनर्विचार के लिए समर्पित कर दिया।

इस समय फूको का ध्यान सत्ता-सम्बन्धों के रचनात्मक आयाम पर गया और उन्होंने दमनकारी संकल्पना (repessive hypothesis) का समस्या के एक हिस्से के रूप में सूत्रीकरण किया। उन्होंने ससीमता के विश्लेषण (analytic of finitude) की वंशानुगत रूप में पुनर्व्याख्या की जो केवल ज्ञानशास्त्रीय ढांचे के रूप में ही नहीं बल्कि पाश्चात्य व्यक्ति की कर्त्ता/कर्म के रूप में बनावट की एक अवस्था भी थी। इस प्रकार फूको ने ‘उस समय के एकदम आधुनिक विचार के चौखटे से अपने आप को मुक्त करने’ की कोशिश की। उन्होंने एक व्याख्या गढ़नी शुरू की जिसमें नियम का विरोध और अर्थहीन इच्छा को ऐतिहासिक परिघटना के रूप में समझा गया जिसने उनको और अन्य सभी को आकार दिया है । यही वह चीज है जिसने लकां की यह दृष्टि बनाई कि मानव कर्त्ता का एक ढांचा होता है, जो सम्भव दिखाई देता है ओर सच भी। यह फूको के अनुसार… “इच्छा और इच्छा के कर्त्ता को इतिहास के क्षेत्र से बाहर रखने के लिए लौटता है।“

प्रश्न और उत्तर के सम्बन्ध को उलटकर फूको ने यह जांचना शुरू किया कि यह कैसे स्वयंसिद्ध हो गया कि कर्त्ता, इच्छांए और निषेध ऐसे प्रत्यय हैं जो इतिहास और समाज की विवचेना करते हैं। फूको के लिए केन्द्रीय अर्थापनवादी समस्या यह बन गई कि ईसाई पाप-स्वीकार की प्रथा से फ्रायड की लैंगिकता की व्याख्या (hermeneneutic of sexuality) से होते हुए ‘इच्छाओं वाले व्यक्ति’ की तरह हमारी बनावट क्या है।

फूको एक व्यापक सिद्धान्त बनाने की कोशिश नहीं करते, और न किसी महाआख्यान की संभावना का विखंडन करते हैं; बल्कि वे हमारी वर्तमान स्थिति का एक अर्थापनवादी विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। यह फूको का वंशावालिविज्ञान (genealogy ) और पुरातत्वज्ञान (archaeology) का अनूठा सम्मिलन है जो उन्हें सिद्धान्त और भाष्य-विज्ञान (hermenutic) के पार ले जाता है और फिर भी वह समस्याओं को गम्भीरता से लेते हैं। अर्थापनवादी विश्लेषण को व्यवहार में लानेवाले यह समझते हैं कि वे खुद उसी से पैदा हुए हैं जिसका वे अध्ययन कर रहे हैं ; परिणामत: वे कभी उससे बाहर नहीं रह सकते । वंशावलिवेत्ता सांस्कृतिक व्यवहार को किसी सिद्धान्त की अपेक्षा ज्यादा आधारभूत मानते हैं। वह मानते हैं कि किसी सिद्धान्त की गम्भीरता को समाज के जारी इतिहास के हिस्से की तरह समझा जा सकता है। समाज के व्यवहार के अनूठेपन के देखने के लिए फूको जो पुरातात्विक कदम उठाते हैं, उसका अर्थ यह नहीं कि वह इन व्यवहारों को अर्थहीन मानते हैं। चूंकि सांस्कृतिक व्यवहार में हम दूसरों के साथ साझेदारी करते हैं और चूंकि इन व्यवहारों ने हम जो हैं उसे बनाया है इसलिए हम सब का, मजबूरन, एक साझा धरातल है जहां से हम आगे बढ़ते हैं, समझते हैं और क्रियाशील होते हैं। लेकिन यह आधार अब सार्वभौम, गारंटीयुक्त, सिद्ध और जमीनी नहीं है।

फूको कोई आदर्शकारी सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं करते, फिर भी, जैसा कि हेबरमास इंगित करते हैं, फूको की रचना में निश्चित रूप से एक आदर्शवादी जोर है। फूको ने अपने अर्थापनवादी रूख के अनुरूप,

59

रिचर्ड रॉटी और राबर्ट बेल्ला (Robert Belah) की तरह, सामजिक संगठन को दार्शनिक आधार पर आवज ठहराने की कोशिश को छोड़ दिया है। फूको इससे भी आगे जाते हैं और आदर्शकारी सिद्धान्तों के समायोजन को अस्वीकार कर देते हैं। हायडेगर और विटगेन्सटाइन को आगे बढ़ाते हुए, वे भाषा का इस्तेमाल, जिसे हम सामजिक वातावरण समझते हैं उसके खिसकाव (shift) के लिए करते हैं। साथ ही, वे उसे भी सकारात्मक रूप से अंगीकार करते हैं जिसे ऑस्टीन संयुक्त कार्रवाई के प्रतिपादन के लिए भाषा के शैलीगत प्रभाव (perlocutionary effect) का उपयोग कहते हैं।

इस अर्थ में, एक अर्थापनवादी सिद्धान्त दूसरे से कैसे बेहतर है, यह तो अभी पता लगाना है निश्चित रूप से इसका सम्बन्ध साझा सरोकारों के समायोजन से और एक ऐसी भाषा की प्राप्ति से है, जो सामजिक स्थितियों के बारे में बात करने के माध्यम के रूप में स्वीकृत हो जाय। और साथ ही, भिन्न-भिन्न सरोंकारों के समायोजन के लिए दूसरे साझे असंगत व्यवहारों से सम्भावित ‘संवाद’ या बेहतर ढंग से कहें, तो व्याख्यों की टकराहट के लिए खुला छोड़ दे।

फूको की अर्थापनवादी पहुँच उस समस्या की पहचान से बनती है जिसे फूको हमारी आज की समस्या कहते हैं। वे तटस्थ होकर इस स्थिति के पैदा होने का वर्णन करते हैं, और साथ ही साथ, अपनी अलंकारिक कुशलता का इस्तेमाल उस सर्वव्यापी खतरे, जिसे उन्होंने बडे रूप में देखा है, के रू-ब-रू साझी बेचैनी को प्रतिबिंबित करने और बढाने के लिए करते हैं। इस प्रकार फूको की प्राथमिकताओं और उनके कार्य को जायज ठहरानेवाले एक सिद्धान्त की अंसभावित और अनावश्यकता के प्रति उनकी अन्तर्दृष्टि के बीच का तनाव मात्र एक अन्तविर्रोध है। इसी तनाव में एक सुसंगत पद्धति के तत्व मौजूद हैं।

जैसा कि हमने अपनी पुस्तक में दिखाने का प्रयास किया है, फूको की पहुंच न उतनी विषयनिष्ठ है और न उतनी वस्तुनिष्ठ जितनी वह दिखती है। पागलपन पर अपनी एक किताब में वे एक ऐसी परियोजना में सम्मिलित थे जो इस अवलोकन के साथ शुरू होती है कि सामजिक व्यवहार, व्यक्तिगत दु:ख और सामजिक खतरे का स्रोत है। अपनी उस पुस्तक के बाद उन्होंने भाष्य-विज्ञान का इसलिए लगातार विरोध किया कि यह अतार्किक शक्तियों को सम्भव बनाता है और इस प्रकार विवेकबुद्धि को कमजोर करता है। फिर भी वे नीत्शे और हाइडेगर की तरह अपने कुछ लेखों में अर्थापन प्रस्तुत करते रहे । तर्क ओर अतर्क, स्वास्थ्य और बीमारी, विज्ञान और खुशी की बदलती सीमा को यद्यपि फूको ने निर्लिप्त वस्तुगतता, साथ प्रस्तुत किया है। (फूको का खुशनुमा प्रत्यक्षवाद), पर किसी भी वस्तुगत तरीके से इसे हमारे समय का मूलभूत मुद्दा नहीं कहा जा सकता । और न ही, इन सन्दर्भो के प्ररिप्रेक्ष्य में, फूको के इतिहास- लेखन की रूचि को मात्र व्यक्तिगत स्थिति की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

इस रोशनी में, वंशक्रमवेत्ता फूको ‘सिनिक’ कतई नहीं कहे जा सकते । वह, वास्तव में सिनिक होते अगर उनका उद्देश्य सत्ता के हर स्वरूप का विरोध करना और सत्य के हर दावे को नकारना होता। फिर भी, उन्हें उन लोगों से अपने को अलग प्रस्तुत करने और उनकी आलोचना करने में परेशानी होती है जो सत्ता के खिलाफ सत्य को ऐसे रखते हैं मानों सत्य और सत्ता का एक-दूसरे से अलगाव स्वयंसिद्ध हो: और उनकी भी जो सोचते हैं कि समाज का मात्र का लक्ष्य (telos) होता है जिसका जीवन संसार को लगातार तर्कपरक बनाते जाने के साथ अंतिम रूप से भेद खुल चुका होता है। फूको ने यह अवस्थिति कभी नहीं स्वीकारी । वे बुद्धिजीवियों के पेशे को उन विशिष्ट स्वरूपों ओर विशिष्ट अन्तर्सम्बन्धों की पहचान के रूप में लेते हैं जो सत्य और सत्ता ने हमारे इतिहास में ग्रहण किये हैं। उनका उद्देश्य कभी भी समग्रता

60

में सत्ता का नकार नही रहा है और न सत्य उद्घाटन । उनका उद्देश्य अपने विश्लेषण का इस्तेमाल कर हर खास प्रकार की सत्ता/ज्ञान द्वारा उत्पन्न विशिष्ट खतरों पर प्रकाश डालना है।

आधुनिक समाज के आने विश्लेषण में फूको “जैव-शक्ति” (bio-power) को हमारे समय विशेष की सत्ता/ज्ञान का स्वरूप बताया है। ‘जैव-शक्ति’ की परिभाषा हमारे व्यवहार के कार्यान्वयन के उस तरीके के रूप में की जा सकती है जिसके द्वारा एक ऐसी व्यवस्था लाई जा सके जिसमें पाश्चात्य व्यक्ति स्वस्थ, सुरक्षित और उत्पानशील बन सके। जब हम देखते हैं कि ‘जैव-शक्ति’ आज कैसे कार्य करती है, तो हम पाते हैं कि आज के मानव को समझाने के लिए हमें बोधगम्यता के तंत्र की जरूरत है। फूको यह दावा नहीं करते कि ‘जैव-शक्ति’ ही एकमात्र ऐसी शक्ति है जो हमारे साथ गतिमान है। बल्कि वे अर्थापनवादी दावा करते हैं कि अगर आप चीजों को इस तरह से देखते हैं तो बहुत सारी चीजें खुद स्पष्ट हो जायेंगी।

फूको ने उन व्यवहारों को रेखांकित किया है जो आधुनिक वस्तु पैदा करते हैं और उनका वर्णन ‘डिसिप्लिन एण्ड पनिश’ में किया है। ‘हिस्ट्री ऑ सेक्सुआलिटी’ में उन्होंने हमारे आत्म-स्वीकार (self - confession ) और आत्म-नियंत्रण (self-mastery) के संस्कारों के विकसित होने को रेखांकित किया है जिसने हमें आत्म-विश्लेषी, स्वायत्त और अर्थ-प्रदायी कर्त्ता बना दिया है।‘ फूको के अनुसार, ये अनुशासनात्मक और प्रायश्चित के संस्कार प्रबोधन के बाद जीवन के एक सामंजस्यपूर्ण स्वरूप में विकसित हुए जिसे हम आधुनिकता कहते हैं।

आधुनिकता कोई विशिष्ट ऐतिहासिक घटना नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक मुकाम है जिससे हमारे इतिहास को कई बार गुजरना पड़ा है, अलबत्ता अलग-अलग स्वरूप और विषय-वस्तु के साथ। उदाहरण के लिए सुकारात व एरिस्टोफेनीज (Aristophanes) के समय एथेन्स में पारम्परिक सद्गुणों का विलोपन, यूनानी दुनिया का पतन, कांट के समय आधिभौतिकवाद का अन्त। यह विच्छेद यथार्थ के प्रति एक खास प्रवृति को जन्म देता है, जिसे विषयगत स्थिति से अलग करने के लिए फूको लोकाचार (ethos) कहते हैं। आधुनिकता के संकट में यथार्थ की पूर्वामान्य समझ साझी पृष्ठभूमि के रूप में कार्य करती जिसकी रोशनी में लोग अपने कार्य-कलापों की दिशा और उनकी वैधता तय करें। और आधुनिकतावादियों का प्रत्युत्तर होता है पुरानी व्यवस्था के पतन से अपनी स्थितियों का स्पष्ट तौर पर और वीरता से मुकाबला करना।यूनान में थ्यूसीदिदस (Thucydides) और ‘सेफिस्टों’ (sophists) की, अलेक्जेंड्रिया में गूढ़ज्ञानवदियों (Gnostics) और ‘स्टोइको’ (Stoics) की और निश्चित रूप से, कांट की यही प्रवृति थी।

आधुनिक लोकाचार यानी इन संकटों का स्पष्ट और वीरता से सामना करने की क्षमता - वह नहीं है जिसे फूको परिपक्वता कहते हैं। परिपक्वता केवल बहादुरीपूर्ण अवस्थिति नही, बल्कि अपनी वर्तमान स्थितियों के प्रति ऐसी समझ है जिसे फूको विडम्बनापूर्ण कहते हैं।

यहाँ विडम्बनापूर्ण का अर्थ फूको के लिए सामान्य नहीं है, बल्कि इसकी समझ फूको के परिपक्वता के प्रति दृष्टिकोण को समयामयिक विचारकों से अलग करती है। यह पारम्परिक गम्भीरता को छोड़ देना, पर वर्तमान के सरोकारों में सक्रिय हिस्सेदारी को जारी रखना है। यह उस यथार्थ को, जिसका आधार गहरा लगाव हो, विशेष दर्जा प्रदान करने से परहेज करता है, और उस खालीपन से भी बचता है जो सारी गम्भीरतओं को त्यागकर खुदा की मज़ार पर रक्स, लिंग-पूजा या शब्दाडम्बर (logos) से पैदा होता है।

61

यह विडम्बनापूर्ण रूख वर्तमान में उन व्यवहारों से रूबरू होता है जिनमें सक्रियता की एक नई सम्भावना दिखती है। बोदलेयर के लिए आधुनिक प्रवृत्ति का अर्थ ‘इतिहास में कविता’ के क्षणों की तलाश है; कुरूप आधुनिक दुनिया में वह जैसी है और जैसी हो सकती है उसकी कविता: “जहाँ भी सूरज बेचारे जानवर की स्फूर्त खुशियों को जगा देता है” (whenever the sun light up the swift joys of depraved animal) होल्डरलिन (Holderlin), जिस कवि की हाइडेगर प्रशंसा करते है, बोदलेयर की तरह जानते थे कि परम्परा नष्ट हो चुकी है, इसलिए वे अस्तित्व के अन्य सम्भव तरीकों के संकेतों की रक्षा की कोशिश करते है, ताकि ये दिन मिल कर नये सांस्कृतिक प्रतिमान बन सकें। हाइडेगर इसे भी, होल्डरलिन की तरह ही, एक नये ईश्वर की संक्षा देते हैं।

फूको सोचते हैं कि वह कविता नहीं कर रहे, अगर कविता वही है जैसा बोदलेयर ने सोचा है - यानी कि वर्तमान दूनिया की एकरसता और समांगता को स्वीकारते हुए इसे पहचानने की हमारी दृष्टि का सौंदर्यबोधात्मक रूपान्तरण । हाइडेगर की तरह फूको भी हमारी दुनिया को बदलना चाहते है। लेकिन जहाँ हाइडेगर एक नये ईश्वर को स्थापित न कर पाने में अपने प्रयास की असफलता का अहसास करते है, वहीं फूको ईश्वर की गलतियों का विलाप नहीं करते और न एक नये ईश्वर की खोज करते हैं। न ही कर्त्तृव्य के लिए बैकल्पिक सम्भावनाओं का पता लगाने को अपना मुख्य कार्यभार समझते हैं। वह मात्र समसामयिक खतरे को परखने का प्रयास कर रहे हैं। और अपनी अन्तिम कृतियों में आधुनिक आचार-संहिता (ethics) के तत्व तलाशने की कोशिश करते हैं।

फूको के मत में कांट आधुनिक थे, पर परिपक्व नहीं। उन्होंने आधिभौतिक यथार्थ में मानवीय कर्त्तृव्य के आधार के खिसक जाने की बहादुरी से सामना तो किया, किन्तु इस आधार को पुन: ज्ञान मीमांसा में तलाशने लगे। उन्होंने पाया कि एक दार्शनिक को अपने दर्शन को अपने समय की परिस्थितियों से जोड़ना ही होगा, लेकिन तत्कालीन सामजिक व्यवस्था के खतरों से सामना करने की बजाय उन्होंने उसी में मानवीय गरिमा कोस्थपित करने का रास्ता ढूँढना चाहा। यद्यपि यह ऐसा वक्त नहीं था कि बोदलेयर जैसी विडंबनापूर्ण परिपक्वता को हासिल न किया जा सकें। थ्यूसीदिदस ने बिना एथेन्स की वफादरी को अस्वीकारें हुए और बिना स्पार्टन अनुशासन को अस्वीकारे हुए एथेन्स के प्रजातंत्र के ध्वंस का सामना किया था। कांट ने, आदर्श समाज क्या होगा इसकी आदर्शात्मक विवेचना को अंगीकार किये बिना वर्तमान के प्रति आलोचनात्मक रूख आपनाया। उन्होंने यह महसूस तो किया कि एथेन्स के विनाश के कई रूपों की अन्तहीन पुनरावृत्ति होगी, फिर भी आशा को उन्होंने तिलांजलि नही दी। उन्हें तो एथेन्सवसियों के कार्यव्यापार में इसके भी तार दिखे कि उनके नये संविधानात्मक प्रजातंत्र में एथेन्स और स्पार्टा - दोनों की कुछ श्रेष्ठ विशिष्टाताओं की रक्षा होगी।

इस लेख की थीमिस यह है कि परिपक्वता का अर्थ, कम से कम, इस सम्भावना से समाना करने की इच्छा है कि कर्त्तृव्य का आधार वैयक्तिक कर्त्ता के व्यापक और अनैतिहासिक सिद्धान्तों या तत्सम्बन्धी लेखन में नहीं तलाशा जा सकता, न ही समुदाय की परिस्थितियों या तत्सम्बन्धी वाचन ढूँढा जा सकता है। वास्तव में ऐसे प्रयास और भी सभी इससे सहमति जाहिर करेंगे आज की परिस्थिति में और अधिक कठिनाई पैदा करते हैं। इस व्याख्या के अनुसार हमारी आधुनिकता की शुरूआत कांट के नैतिक आदर्शो और सैद्धान्तिक सत्य के दार्वो को माननीय सीमितता के खोखले औपचारिक ढांचे में स्थपित करने की चेष्टा से होती है। लेकिन कांट के प्राकृतिक नियमों और वैश्विक व्यवस्था से साहसपूर्ण विच्छेद की प्रक्रिया ने वैविघ्य की सम्भावनाओं के द्वार खोलने की बजाय, बहस को मानवीय कर्त्तृव्य के लिए व्यापक आदर्श प्रस्तुत

62

करने वाले मानवीय सीमितता के ढाँचे की खोज पर केन्द्रित कर दिया । इस प्रयास के आधुनिक स्वरूप, जो अब भाषा-विज्ञानी रूप धारणा कर चुके हैं, आज भी सार्वभौमिक और आदेशात्मक बने हुए हैं। एक तरफ तो चिन्तनविरोधी हैं, जो संकेत-सूचकों के मनमाने खेल से मानव-कर्त्ता को खोखली इच्छा के रूप में चित्रित करने वाले अनैतिहासिक सिद्धान्त के आधार पर गम्भीरता की भर्त्सना करते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि हर एक निरन्तर विडम्बनापूर्ण बना रहे। दूसरी तरफ, गम्भीरता के बहादुर रक्षक हैं जो सम्प्रेषण के सिद्धान्त के आधार पर गैर-जिम्मेदाराना विडम्बना की भर्त्सना करते हैं, और उत्तेजक लफ्जों में हर एक याद दिलाते रहते हैं कि यह उनकी जिम्मेदारी है कि वह सभी वाक्-कर्त्तृव्य में निहित सार्विक अनिवार्यता का अनुकरण करें । फूको ने इन दोनों दार्शानिक सर्विकीकरण करने वाली अवस्थितियों का विरोध किया। अपने अंतिम साक्षात्कार में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा :“नैतिकता के ऐसे रूप की खोज जो हर एक को हम इस रूप में स्वीकार्य हो कि हर एक को इस पर समर्पित होना ही होगा मेरे हिसाब से विध्वंसकारी हैं।“

फूको ने चिन्तनविरोधियों द्वारा गम्भीरता पर प्रहार को जायज ठहराने के लिए सिद्धान्त पर जोर देने की प्रकृति को इस प्रकार रेखाकिंत किया है:

“1960 के दशक में जो हमने लेखक का सम्पूर्ण अविराम सैद्धांतीकरण देखा है, निश्चित रूप से एक अन्तिम चीत्कार था ... सटीक रूप से यह सिद्धान्त का विषय है कि (लेखक को) वैज्ञनिक विश्वसनीयता की जरूरत थी, जो भाषा-विज्ञान, लक्षण-विज्ञान, मनोविश्लेषण, ... में पायी जाती है...”

इस प्रकार, अर्थापनवादी परिप्रेक्ष्य में, दर्शन के रक्षक परिपक्व दिखने की बजाय ज्यादा सौम्य दिखते हैं उदाहरण के लिए, अगर हम उन तर्को को देखें जिनके आधार पर हेबरमास अपने सार्विक आदर्शो तक पहुँचते हैं, तो हम पाते हैं कि वे दो महत्वपूर्ण अर्थापनवादी कदम उठाते है, बिना यह व्यक्त किये कि वे हमारी दार्शनिक परम्परा के केन्द्रीय हिस्से हैं। पहले में वे दावा करते हैं कि “समझ भाषा का अन्तरिक लक्ष्य हैं।“ और इस प्रकार भाषा के सम्प्रेषणात्मक इस्तेमाल को ज्यादा महत्ता देते हैं, बिना इस बात पर गौर किये कि अन्य दार्शनिकों, जैसे हाइडेगर ओर चार्ल्स टेलर ने भाषा को चीजों को अपने रूपों में प्रकट करके कर्तृव्य और सम्प्रेषण के लिए कार्यक्षेत्र तैयार करने वाले माध्यम की तरह व्याख्यायित किया है। एक दूसरा कदम जो और ज्यादा सूक्ष्म और प्रभावकारी है वह यह कि भाषा के इस्तेमाल को वाक्-कर्तृव्य के तुल्य मानते हुए, वे आगे बढ़ते हैं ओर जो कहा गया है उसके विशिष्ट शैलीगत अनुकुल प्रभावों को छोड़ देते हैं। वे ज़ोर देते हैं कि आदर्श रूप में केवल विशिष्ट शैलीगत प्रतिकुल सारतत्वों की ही सहमति पर पहुँचने में भूमिका होनी चहिए। यह कदम संचित अनुभव पर आधरित प्राधिकार और अलंकार शास्त्र को छोड देता है। और इस प्रकार भाषा के कार्य को सम्प्रेषणात्मक से केवल बुद्धिजीवीवादी तक सीमित कर देता है। चूंकि इन दो महत्वपूर्ण अर्थापनवादी-न्यूनीकरणों की वे पूर्वकल्पना कर लेते हैं, हेबरमास का सार्वभौम, वस्तुपरक, सम्प्रेषणात्मक आदर्श अपनी धरातल-विहीनता में काफी आधुनिक दिखता है।

इस दावे का कि विशिष्ट शैलीगत प्रतिकुल विषय-वस्तु को ही सहमति पर पहुँचने में भूमिका अदा करनी चाहिए एक और बुद्धिजीवीवादी परिणाम यह है कि उस साझे सांस्कृतिक अर्थो के विवेचन को छोड़ देता है जिस परिप्रेक्ष्य में सहमति पर पहुँचते हैं। हेबरमास निश्चित रूप से इस अवलोकन से सहमत होंगे कि तर्कपरक बहस के लिए एक साझी समझदारी की पृष्ठभूमि होती है जैसे कि महत्वपूर्ण क्या है, तात्पर्य क्या है, सही/गलत भाषा-खेल में निहित है, क्या तर्क कहलाता है, आदि-आदि । लेकिन अपने इस दावे को मजबूत करने के लिए कि स्पष्ट अभिप्राययुक्त विषय-वस्तु के बाहर का कोई भी कारक

63

सर्म्प्रेषण को प्रभावित और शायद विकृत नहीं कर सकता, उन्हें यह मानना की जरूरत पड़ती है कि हमारी साझी समझ की पृष्ठभूमि को बाद के ‘पाश्चात्य’ पूंजीवादी संस्कृति में सुस्पष्ट किया गया है। और यह भी कि जहाँ भी कोई समस्या होती है, पृष्ठभूमि को यथेष्ट रूप से स्पष्ट किया जा सकता है ताकि तर्कपरक मूल्यांकन किया जा सके।

इस अवस्थिति की दिक्कतें, एकदम स्पष्ट तौर पर प्रबोधन के पसंदीदा तार्किक कर्तृव्य यानि प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में देखी जा सकती हैं। वैज्ञनिक क्षेत्रों में कैसे कार्य होता है - इसकी व्याख्यों में एक ज्वलंत प्रश्न यह है कि क्या प्रतिमान (paradigm) इनके व्यवहार में आवश्यक भूमिका अदा करते हैं। अगर थॉमस कह्न और उनके अनुयायी सही हैं तो सामान्यत: विज्ञान एक व्यवहार है जिसमें वैज्ञानिक साझे उदाहरणों को निर्देशित कर तार्किक बहस करते ह। ओर साथ ही साथ, सहमति इसलिए बन पाती है क्योंकि इन प्रतिमानों को साझी धारणाओं के एक समुच्चय के अनुरूप ढालने की कोशिश नहीं की जाती। यों कहें कि प्रतिमान को उन दावों (assertion) के अभिप्रायुक्त विषय-वस्तु के हिस्से के रूप में नहीं रखा जाता, जिन दावों का मूल्यांकन किया जा रहा है। इन मामलों में तर्कपरक विधि के प्रति लगाव की कमी ही विषय-वस्तु के बारे में तर्कपरक सम्प्रेषण को स्म्भव बनाती है।

जहाँ चिन्तनविरोधियों का असारता (frivolity) पर दृढ़ रहना उन्हें अपरिपक्व बनाता है वहीं हेबरमास की अर्थापन का ऋणी होने से अस्वीकारता उनकी अवस्थिति को प्रोफेसराना बनाती है। दोनों में से कोई भी अवस्थिति परिपक्व नहीं है और दोनों ही आधुनिकता के नाम पर दूसरे मान्य अर्थापनवादी अवस्थितियों, जैसे कि फूको की, संवाद के रास्ते को पहले से बंद कर लेते हैं। कांट के कार्यभार को दो शताब्दियों के बाद आगे बढ़ाने के लिए आलोचनात्म तर्कबुद्धि को सार्विक वस्तुगत आधार पर पहचानने की कोशिश से बचना होगा और सामजिक परिपवक्ता के रास्ते पर अन्य सभी समाजों से वर्तमान सामजिक परिस्थितियों के एक कदम आगे होने की स्थापना से बचना होगा।

यह कांट के कार्यभार के अनुरूप होगा कि आलोचनात्मक तर्कबुद्धि का हम परिपक्वता से इस्तेमाल करें ओर फूकों के एक अर्थापनवादी विश्लेषण के विचार पर गौर करें : (1) वर्तमान कार्य-कलाप की विवेचना और व्याख्या इस प्रकार करना कि यह समझा जा सके जा सके कि हमारी आधुनिकता के कौन पक्ष टाले नहीं जा सकते (2) कुछ युगों के व्यवहार में अस्पष्ट रूप में अभिव्यक्ति उस बोध को चिन्हित करना कि व्यापक रूप से गड़बड़ी हुई (हाईडेगर की ‘विपत्ति’ ओर फूको के ‘खतरे’ इनते वस्तुगत हैं कि ये व्याख्या के इस महत्वपूर्ण पक्ष को पकड़ जाने में अक्षम हैं) ; (3) इस व्यापक साझी भावना को आगे बढ़ाना कि प्रबोधन के वादे आज भी पूरे नहीं हुए; (4) विचारकों और चिन्तनविरोधियों से आगे जाकर वर्तमान के प्रति ऐसा रवैया अपनाना जो खोखले सर्विक आदर्शो को वैध नहीं ठहराये ओर अर्थापन के विवादों को प्रत्सोहित करे; (5) और फूको से आगे जाकर उन प्रबोधनोत्तर व्यवहारों को स्पष्ट मजबूती प्रदान करना जो सकारात्मक हैं - जैसे बहत सारी प्रौद्योगिकी, कानूनी और चिकित्सा-संबधी हमारी सुविधांए और उन प्रबोधन-पूर्व व्यवहारों की पहचान और रक्षा करना जो युक्तिकरण और प्रसामान्यीकरण (normal) की प्रक्रिया से अछूते रह गये हैं।

अपने जीवन में और अपनी आखिरी पुस्तकों में फूकों ने दिखाया कि एक प्रकार की नैतिक और बौद्धिक ईमानदारी होती है जो किसी के व्यवहार के धर्म, कानून विज्ञान या दार्शनिक आधार पर जायज ठहराये जाने का प्रबल विरोध करते हुए भी, जीवन के एक नवीन नैतिक स्वरूप को जन्म देती है, जिसका पूर्वाधार होता है - कल्पना, सुबोधगम्यता, हास्य, अनुशसित विचार और व्यावहारिक समझदारी । (अनु-उमाशंकर)

64

# स्थापत्य: ल कोरबूज़िए के शहर में रिक्शे

प्रभात

‘Welcome to the city Beautiful’ चंडीगढ़ शहर में किसी भी राजमार्ग से प्रवेश करने पर यह सन्देश, शहर के प्रतीक खला हाथ, जो एक उड़ते पक्षी सा भी दिखता है, के साथ आगन्तुक का अभिवादन करता हैं। औरों की बात मैं नही कह सकता लेकिन शिवालिक पहाड़ियो की छाया में बसा यह शहर मुझे देश के आधुनिक शहरों में सबसे बेहतर और अलग दिखता है। यह बात अगल है कि हिन्दुस्तान के आधुनिक शहरों में स्थापत्य कला की कल्पनाहीनता, शहरी योजनाओं और नियमों की अवहेलना तथा वातावरण की गन्दगी इस कदर है कि किसी शहर को इनमें से सर्वोत्तम होने के लिए अन्धों में काने राजे से अधिक होने की जरूरत नहीं है। कुछ लोग देश के आधुनिक शहरों की अमानवीय स्थिति की तुलना पुराने शहरों से करते हैं जहाँ की वास्तुकला जमीन से उपजी थी तथा जो सच्चे अर्थो में समुदाय के जीवन की पृष्ठभूमि थे, न कि जीचनयापन की मशीन की फैक्टरियां। देश के पुराने शहर एक समय में सुन्दर रहे होंगे, लेकिन अगर आपने जैसलमेर के सुनहरी पत्थर के बने किले, जिसकी पृष्ठभूमि पर सत्यजीत रे ने खूबसूरत जासूसी फिल्म सोनार किला बनायी थी, कि मुख्य द्वार के

65

बगल की दीवार पर प्रतिदिन सैक्ड़ो दुकानदारों और स्थानीय पुरूषों की मूत्रनलियों की फुहार से उड़ती सडान्ध को भोगा है तो आप इस बात को अवश्य मानेंगे कि हम आधुनिक भारतीयों ने अपने पुराने शहरों की स्थिति भी बदतर बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ रखी है। इसके अलावा शहरों के पुराने हिस्सों से उन लोगों का पलायन जिनके पास नये इलाकों में आवास के साधन हैं भी यही दर्शाता है कि अब पुराने शहर रिहाइश के लिए खुशगवार नहीं रह गये हैं। जहां देशों के बाकी शहरों का यह आलम है तो वहां चौड़ी सड़र्को, खुले पार्को तथा यहां तक कि पेडों के भी योजनाबद्ध सलीके से लगे होने वाले शहर चडीगढ़ को सबसे सुहावना कहना गलत नहीं होगा। शायद मेरी बात पर आपको और अधिक विश्वास होगा अगर आपको बता दूं कि मैं चंडीगढ़ का निवासी हूं न ही कभी इस शहर को विशेष देखने के लिए टूरिस्ट के रूप में कभी वहाँ गया हूँ। हाँ, शहर से बीसियों बार मैं गुजरा अवश्य हूं।

ऐसी ही एक यात्रा के दौरान एक घटना घटी जिसने मुझें चंडीगढ़ के बारे में ओर सोचने के लिए मजबूर कर दिया। रात के समय हमारी बस शहर से गुजर रही थी। मेरी बगल में बैठा गुजरात से आया सैलानी ऊँघ रहा था। शायद वह कोई अच्छा सपना देख रहा होगा, क्योंकि ब्रेक लगने से उठने पर जब उसने प्रकाश नही में नहायी चौड़ी सपाट सड़कें से हटकर वैभवशाली भवन और आलीशान बंगले देखे तो उसके चेहरे पर वही सन्तुष्टि का भाव था जो एक सुखद सपना देखते हुए रहता हैं। एक परीलोक में होने का विस्मय उसकी भंगिमा से झलक रहा था। झिझकते हुए उसने पूछा, ‘यह कौन सा शहर है?’ ‘मैं कहाँ हूँ?’ के अन्दाज में । शहर के दक्षिणी हिस्से उत्तर पश्चिमी छोर तक बस का आधा घंटा और लगा, लेकिन उसका भाव वही रहा । अपने प्रिय शहर की प्रशंसा किसी और के मुख पर देख कर मैं भी खुश था तथा शहर के बारे में छोटी-मोटी जानकारी उसे दे रहा था । शहर के बाद उस ने रोपड़ का रूख किया। मार्ग के दोनों ओर अब नीम या ऐसी ही किसी प्रजाति के बड़े-बड़े दरख्त थे जिनकी विशालता के नीचे सड़क का अन्धकार और गहरा हो गया था। मेरे सहयात्री ने अचानक प्रश्न किया, ‘क्या चन्डीगढ़ में रिक्शे चलते हैं?’ शहर से अपनी घनिष्टता को दर्शाते हूए मैंने कहा, ‘हां, बहुत आसानी से मिलते हैं। कम फासले के लिए लोग उनका ही प्रयोग करते हैं।‘ कुछ देर चुप रहने के बाद वह फिर बोला, “मैं सोच रहा था रिक्शे वाले इस शहर में कहाँ रहते होंगे।“ मैं निरूत्तर, क्योंकि मुझे सचमुच नहीं पता था कि इस नियोजित और साफ-सुथरे शहर में रिक्शेवालों के रहने के लिए कौन सी जगह होती और यह मात्र मेरी अज्ञानता के कारण नहीं था। बहुत कुछ जिम्मेदारी शहर के मुख्य नियोजक ला कोरबूज़िए की थी क्योंकि शहर की उसकी योजना में रिक्शेवालों के रहने के लिए वाकई कोई स्थान नहीं था।

शहर की आवश्यकता और योजना

जहां पर आज चंडीगढ़ है वहां पचास साल पहले खेत और आम के बाग हुआ करते थे। चौबीस गांव बसा करते थे, शहर के 114 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में। अगर सन्’ 47 में देश का विभाजन न हुआ होता तो चंडीगढ़ भी नहीं बनता। देश के सबसे सम्पन्न प्रान्त पंजाब का बंटवारा तो हुआ ही, इसकी राजधानी लाहौर भी पकिस्तान में रह गयी । वही लाहौर जो उत्तर पश्चिमी भारत का सांस्कृत्तिक केन्द्र था तथा जिसकी किताबों की दुकानों के बारे में कहा जाता था कि अगर कोई किताब वहाँ नहीं है तो शायद दुनिया में कहीं नहीं है। बंटवारे से कटे-फटे पंजाब के लिए नयी राजधानी की आवश्यकता थी। कुछ वर्षो तक शिमला से काम चलाया गया। यह व्यवस्था कामचलाऊ ही थी। एक औपनिवेशिक साम्राज्य का शासन किसी पहाड़ी से किया जा सकता था, जनतन्त्र का दम भरने वाले आधुनिक राज्य का नहीं ।

66

राजधानी का मैदानों में हाना आवश्यक था। अमृतसर सीमा के बहुत नजदीक था और पंजाब के बाकी किसी शहर के वो ठाटवाट नहीं थे जिसकी आशा पंजाब का शासक वर्ग कर रहा था। राजधानी के लिए हिमालय के प्रथम पग शिवालिक पहाड़ियों के नीचे इस भूभाग को चुना गया। उन चौबीस गांवों के निवासियों का क्या हुआ यह एक अलग कहानी है। फिलहाल मैं गांवों की जगह पर बनाये गये नये शहर की बात करना चाहता हूँ।

अगर एक विमान दुर्घटना न हुई होती शायद चंडीगढ़ का स्वरूप कुछ और होता। इस दुर्घटना में पोलिश-अमरीकी वास्तुकार नोविच्की की मृत्यु हो गयी थी। भारत सरकार ने सन’ 49 में नोविच्की के वरिष्ठ अमरीकी सहयोगी मेयर को पंजाब के लिए नयी राजधानी की योजना बनाने के लिए अनुबन्धित किया था। मेयर इससे पहले द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत में रह चुका था। उसे देश के पुराने शहरों ने विशेष प्रभावित किया था। घरों के भीतरी बरामदे जहां पर घर का काम बाहर वालों की नजर से बचा रहता था, तंग गलियाँ तथा धुमावदार सड़कें जो जरूरत पड़ने पर कहीं चौड़ी तो कहीं तंग हो जाती थी, उसे देश के मौसम तथा समाज के विशेष अनुकूल लगी थीं। चंडीगढ़ के लिए तैयार मेयर और नोविच्की के प्रारूपों में पारम्परिक शहरों के कई शहरों के कई अंश शामिल थे। अपने सहयोगी की मृत्यु के बाद मेयर ने अकेले पूरे शहर की योजना को अपनी हिम्मत से बाहर समझा और वह शहर की योजना से हट गया

मेयर के हटने के बाद भारतीय सरकार ने फ्रांसीसी वास्तुकार ल कोरबूजॢए को चंडीगढ़ की योजना बनाने के लिए आमान्त्रित किया और ल कोरबूज़िए अपनी छाप चंडीगढ़ पर ही नहीं भारतीय वास्तुकारों की आनेवाली पीढ़ियों पर भी छोड़ गया। ल कोरबूज़िए की वस्तुकला की आलोचना करने वालों का भी यह मानना है कि वह बीसवीं सदी के स्थापत्य के सबसे महत्वपूर्ण स्तम्भों में से था। इस सदी के स्थापत्य को परिभषित करने में ल कोरबूज़िए का बड़ा योगदान था। स्थापत्य कला में उसकी उत्पादकता तथा उपलब्घियों की तुलना कला में पिकासों से कि जाती है। ल कोरबूज़िए उस मशीनी युग का सर्वक्षेष्ठ प्रतिनिधि था जब सोचा जाता था कि हर समस्या का हल ढूंढा जा सकता है और समस्या बेशक पुरानी हो जोर नये ढूंढने पर दिया जाताथा। ल कोरबूज़िए ने अपनी प्रतिभा और कार्यकल का बेहतरीन हिस्सा नयी सभ्यता की सम्भावनाओं के अनुरूप इसके शहरों तथा रिहायती बस्तियों की योजनांए बनाने में लगया जो सदी की शुरूआत में यूरोप में भी गन्दगी, झोपड़पट्टियों और अनियमिताओं का शिकार थी। उसका हल पुराने इलाकों को ध्वस्त करके वहाँ सख्त योजना के अधीन बहुमन्जिली इमारतें बनाना था। इस कार्यक्रमों के लिए उसका समाज की सामूहिक सत्ता में गहरा विश्वास था। नये युग की उत्पादक शक्तियों में उसकी विशेष रूचि थी। जहां एक ओर उसने सदी के मुख्य निर्माण पदार्थ कंकरीट के गुणों के आधार पर वस्तुकला में सौन्दर्य के नये मानदण्ड स्थापित किए, वहीं दूसरी ओर अपनी कला के रूपों की प्रेरणा भी नयी उत्पादक शक्तियों से लेता था। सन् 1923 में लिखी अपनी पुस्तक ‘Toward a New Architecture' में वह लिखता है कि जहाज, टर्बाइन, हवाई जहाज और मशीनी उत्पाद बीसवीं सदी की कल्पना के मानदन्ड (index) है। कहा जाता है कि चंडीगढ़ में विधानसभा की छत पर ड्रम के आकार का विचार उसे अहमदाबाद में हवाई जहाज से ताप बिजली घर के ‘cooling towers’ देखने पर आया था।

सन् ‘51 में चंडीगढ़ की योजना बनाने के समय ल कोरबूज़िए का पहली बार हिन्दुस्तान से साक्षात्कार हुआ। मान्यता है कि चार दिन के भीतर उसने मेयर और नोविच्की की योजना का कायाकल्प कर दिया जाता तथा अपनी योजना का खाका तैयार कर दिया। शहर के लिए मेयर के पंखेनुमा आकार को आयताकार कर

67

दिया गया। घुमावदार सड़कों की जगह सीधी सड़कों ने ले ली जो शहर को 800 मीटर गुणा 1,200 मीटर के आयतों में बांटती थी। ल कोरबूज़िए का मानना था कि दो बिन्दुओं के बीच सीधी रेखा सबसे तर्कपूर्ण रास्ता होता है, घुमावदार रास्तों को वह टजबरदस्ती का प्रकृतिकरण’ (forced naturalness) तथा गधों का रास्ता मानता था। नोविच्की की योजना में दस्तकारों की रिहाइश का स्थान भी था, जिनकी रहने और काम करने की जगहें एक ही होती थीं। इसके अलावा साईकिलों के लिए अगल सड़कों का प्रावधान था। जबकि पहला अंश ल कोरबूज़िए की योजना से गायब था, दूसरे का योजना में स्थान होने के बावजूद कभी भी निर्माण नहीं किया गया। ल कोरबूजिए का शहर देश के भूत और वर्तमान द्वारा सीमित कल्पना नहीं था, यह एक आधुनिक कृति थी जो भविष्य की ओर उन्मुख थी। भूत से युक्त भविष्य की आंकाक्षा नेहरू युग का विशेष स्वप्न था। और नेहरू स्वयं चंडीगढ़ के योजनाकारों की हिम्मत अफज़ाई करते रहे थे। अपने एक सन्देश में उन्होंने कहा है, “इसे एक नया शहर होने दो, भारत की स्वतंत्रता की प्रतीक, पुरानी परम्पराओं से मुक्त-भविष्य में राष्ट्र के विश्वास की अभिव्यक्ति।“

कोरबूज़िए की आधुनिकी

कोरबूज़िए की कला और उससे बढ़कर उसकी सोच जो उसके द्वारा लिखी 60 से अधिक किताबों में दिखती है, अपनी स्पष्टता तथा गैर समझौतावदिता (non-comprising stance) के कारण आधुनिकी (mofrtniy) के स्पष्टतम उदाहरणों मे से हैं। आधुनिकता की सार्विकता, तार्किकता, functionality तथा सन्दर्भहीनता उसके कला, कर्म और विचारों में भरपूर दिखती हैं जिसकी हाल के उत्तर आधुनिक विचारकों तथा वस्तुकलों विशेषज्ञों द्वारा कड़ी आलोचना की गयी है। सार्विकता की ‘सभी नापों के लिए एक जूता’ (fitting one shoe to every size) की मानसिकता अगर वास्तुकारों के लिए विश्वव्यापी मानदण्डों की जोरदार वकालत और आम लोगों के लिए व्यापक मात्रा में उत्पदित (mass produced) धरों और फर्नीचर के डिजाइनों में देखी गयी है तो शहरों की योजनाओं में सीधी लकीरों आयतों और समकोणों की निष्ठुरता तथा प्रति व्यक्ति जरूरी हवा और खुली जगह तक की सूक्ष्म गणनाएं तार्किकता के उदाहरण माने गये हैं। स्थापत्य में functionality को परिलक्षित करने के लिए शायद सबसे उत्तम कोरबूज़िए का कथन होगा कि ‘घर रहने के लिए मशीन है।‘ अपनी योजनाओं की पृष्ठभूमि किन्हीं भी ऐतिहासिक और स्थानीय सन्दर्भो से साफ न चाहने में उसकी कला और सोच की सन्दर्भहीनता देखी गयी है। चण्डीगढ़ जैसे नये शहर की योजना हो या पुराने पेरिस या मास्को के पुननिर्माण के प्रारूप हों, ये सब एक साफ स्लेट पर तैयार किये गये थे जिस पर स्थानीय सामजिक और ऐतिहासिक सन्दर्भो की अनियमिताओं और अनिश्चितताओं के कोई चिन्ह नहीं थे। उसकी योजना मास्को शहर को सोवियत चिन्तक एल लिस्तिजकी ने ‘कहीं का भी नहीं, शहर कहा था। और जिसे अमरीकी राजनीतिक वैज्ञनिक जेम्स स्काट अपनी पुस्तक ‘Seeing Like a State’ में लिखता है, ऐसा लगता है कि लिस्तिजकी के आरोप को सही साबित करने के लिए ही कोरबूज़िए ने अपनी ‘कहीं के भी नहीं शहर’ मास्को की योजना के अस्वीकार होने पर बिना कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन किये उसे केन्द्रीय पेरिस के लिए ‘Radiant City’ के रूप में प्रस्तुत कर दिया ।

ल कोरबूज़िए की शहरी योजनाओं के दो मुख्य सिद्धान्त थे ‘zoning’ तथा ‘tabula rasa'l’ zoning' का मतलब हैं शहरी जीवन के विभिन्न पक्षों जैसे आवास, काम करने, खरीदारी और मनोरंजन आदि के लिए पृथक क्षेत्रों की व्यवस्था,जिनके बीच आवागमन के लिए सुगम सड़कों का जाल हो। ‘tabula rasa’ का मतलब है योजना के लिए सफाचट इलाका जिससे पुराने आवास के सारे संकेत हटा दिये गये

68

हों । इन दोनों सिद्धान्तों की हाल के वस्तुकला विशेषज्ञों के आलोचना की है। ‘Zaoning’; आधुनिक शहरों की प्रमुख समस्या ट्रैफिक जामों का मुख्य कारण माना गया है तथा 'tabula rasa' की मांग को एक अनावश्यक तथा खर्चीली मांग समझा गया है। राजनीतिक वैज्ञनिक जेम्स स्काट की पुस्तक 'Seeing Like a State' का एक पूरा अघ्याय कोरबूज़िए की या उससे प्रभवित शहरी योजनाओं पर केन्द्रित है। स्काट के अनुसार आधुनिक राज्य का एक मुख्य लक्ष्य समाज को 'legible' यनि स्वयं के लिए पठनीय बनाना रहा है। इसके लिए सामान्य नियमों के अधीन लोगों तथा सामजिक जिन्दगी के विभिन्न आयामों के वर्गीकरण और मानकीकरण (standdisation) के प्रयास होते रहे हैं जिन्होंने कई ऐसी योजनाओं को प्रेरित किया है जिनका उद्देश्य तो लोगों की भलाई बताया गया लेकिन जिनके प्रभाव इसके विपरीत रहे हैं। कोरबूज़िए की शहरी योजनायें भी स्काट के अनुसार ऐसी योजनायें रही हैं।

कोरबूज़िए और आधुनिकी की उत्तर आधुनिक तथा अन्य आलोंचकों ने कई मुद्दों पर आलोचना की है। लेकिन आधुनिक पर सन्दर्भहीनता की हिंसा का आरोप लगाते हुए यह स्वयं बहुधा आधुनिकी के सन्दर्भ को नजरअंदाज कर देते हैं तथा बहुधा सार्विकता और तार्किकता के बैद्धिक सिद्धान्तों की आलोचना बौद्धिक स्तर पर सीमित रह जाती है। अगर एक समय में शासक वर्ग और बुद्धिजीवी आधुनिकतावाद की विचारधारा के प्रभाव में थे तो सिर्फ इस तथ्य को जता कर आलोचना की इतिश्री समझ ली जाती है। जिन सामजिक कारणों से आधुनिकतावाद का प्रभाव व्यापक हुआ था। उनके विश्लेषण से कतराया जाता रहा है। और अगर अब जब कथित रूप से आधुनिक का पतन हो रहा है तो इसके क्या सामजिक कारण हो सकते हैं, इनकी पड़ता भी कम ही जाती है। आधुनिकी के बौद्धिकी सिद्धान्तों की उत्तर आधुनिक आलोचना बौद्धिक कसरत ही रह जाती है तथा वास्तविकता में ये जिन-जिन रूपों में आते हैं उनकी आलोचना बौद्धिक कसरत ही रह जाती है तथा वास्तविकता में ये जिन-जिन रूपों में आते हैं उनकी आलोचना नहीं की जाती । आज के समय के भूमन्डलीकृत पूंजीवाद में आखिर पैसा और पैसे पर आधरित सामजिक रिश्तों से बढ़ कर कौन सी दूसरी चीज सर्विक हो सकती है। टीवी चैनलों पर पैसे पर केन्द्रित गेम शोज की व्यापक लोकप्रियता क्या इस बात का संकेत नहीं है कि पैसों के रिश्तों को आज हर कोई समझता ही नहीं बल्कि उनसे भावनात्मक लगाव भी महसूस करता है। जहां तक वास्ताविकता को गणनात्मक तार्किकता के अनुरूप ढालने की बात है तो वह आधुनिक उद्योगों की उत्पादन प्रणाली को बढकर और कहां होगी। और उपभोक्तवादी मानसिकता से गहरी सन्दर्भहीनता कौन ही होगी, जिसके लिए हर नये उत्पाद को पाने का लालसा ही उसके होने का प्रमाण है। शहरों में zoning की कोरबूज़िए की मांग मौलिक इसलिए लगती है क्योंकि वह इसे जोर से उठाता हैं। वैसे पूंजीवादी समाजों में ‘zoning' स्वयंमेव उत्पन्न हो जाती है, यह शहरी योजनाओं का उत्पाद नहीं है। आवास और काम करने की एक ही जगह उसी समाज में संभव हैं जहां पर काम करने वालों का उत्पादन माध्यमों पर स्वामित्व हो। पूंजीवादी समाजों में काम करने वाले, चाहे वे फैक्टरियों के मजदूर हों या दफ्तरों के क्लर्क, हमेशा से काम करने की जगह से दूर रहते हैं। इसका मुख्य कारण उत्पादन इकाईयों व व्यापरिक प्रतिष्ठानों का केन्र्दीयकरण है। यह भारत के पिछड़े पूंजीवाद के कारण ही है कि यहां पर गालियों के नुक्कड़ पर दुकानें दिख जाती हैं। विकसित देशों की रिहाइशी बस्तियों में ऐसा विरला होता है। आज के समाज की सरंचना से उगने वाली शहरी जिन्दगी की वास्तविकताओं को नजरअन्दाज करने की भूल जेम्स स्काट भी करते हैं। कोरबूज़िए की शहरी योजनाओं के बरअस्क्स वे प्रत्यक्ष तथा व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधरित जिस आदर्श शहरी जीवन की तस्वीर रखते हैं वह छोटी सम्पति वालों के लिए ही संभव है जो व्यापक समाज पर निर्भर होने के बावजूद उससे अलग रह सकते हैं।

69

आधुनिकतावाद मात्र अपने सिद्धान्तों के कारण प्रभावशाली नहीं था। सपाट सतहों, सीधी रेखाओं, साफ खाली जगहों तथा नंगी ज्यामितिक सरंचनाओं में कैद कोरबूज़िए की कृतियों का भी एक सौन्दर्यशास्त्र है। उनकी सुन्दरता उनकी सादगी में छुपी है, जिसका घ्येय ‘कम ही अधिक है’ था। आधुनिकतावाद से पहले वास्तुकला में सुन्दरता के लिए अलंकरण का सहारा लिया जाता था। स्थापत्य में आधुनिकता का एक शुरूआती मकसद पहले के स्थापत्य में अलकरंण की कृत्रिमता से मुक्ति था, जो आधुनिक वास्तुकारों को विशेष इसलिए अखरती थी क्योंकि कंकरीट जैसी निर्माण सामग्रियों के बार इनका कोई functional औचित्य भी नहीं रह गया था। क्या यह विडम्बना ही नहीं कि आधुनिकता के विरोध में आ रहा कथित उत्तर आधुनिक स्?थापत्य सुन्दरता के लिए इसी अलंकरण के सिद्धान्त का अनुकरण करने को मजबूर है। यह किसी भी अमीर इलाके को देख कर स्पष्ट हो जाता है जहाँ विशिष्टता के नाम पर महज अलंकरण ही दिखता है जो गोल स्तंभों , मेहराबों व प्लास्टर आफ पेरिस के घुमावदार डिजाइनों तक सीमित रहता है। कोरबूज़िए की शहरी योजनाओं के प्रभाव का मुख्य कारण यह था कि वे पूंजीवाद और औद्योगीकरण के बाद उत्पन्न हुई नारकीय शहरी जिन्दगी का समाधान दिखती थी। इसी तरह नेहरू युग का भारी उद्योगों पर केन्द्रित आधुनिकतावाद विस्थापन करने वाले बांधों और प्रदूषण फैलाने वाली फैक्टरियाँ ही नहीं थी, बल्कि इन्हें आधुनिक भारत के मन्दिरों की संज्ञा देकर यह एक प्राचीन परन्तु वर्तमान में पिछड़ी हुई सभ्यता में आत्मविश्वास जगाने का प्रयास भी था। यह इसकी लोकप्रियता का एक मुख्य कारण था।

नेहरू व कोरबूज़िए की आधुनिकता सामजिक वास्तविकता को देखने-समझने का दम भारती थी तथा इसे समझकर इसकी समस्याओं का समाघान प्रस्तुत करने का दावा करती थी। आधुनिकता के समाधानों की असफलता की दलदल से उत्ररआधुनिकता की फसल उग रही है। लेकिन जहां आधुनिकता वास्तविकता को देखने-समझने का कम से कम दावा तो करती थी, सापेक्षवादी ज्ञानमीमांसा के प्रभाव में उत्तर आधुनिकतावाद वास्तविकता को देखने-समझने की संभावना पर ही प्रश्नचिन्ह लगाता है। अधिक से आधिक उत्तर आधुनिकतावाद खन्डित दृष्टि की वकालत करता है जो तात्कालित वास्तविकता की सीमित, एकपक्षीय, तथा मृतप्राय छवि ही देख पाती है। जब वास्तविकता में समस्या क्या है, इसकी समझ से ही इन्कार किया जा रहा हो तो समस्या के समाधान की बात तो बहुत दूर की है।

शहर और जिन्दगी

कोरबूज़िए के चण्डीगढ़ के साथ मुख्य दिक्कत आधुनिकता के अर्मूत सिद्धान्तों की हिंसा, स्थानीय सन्दर्भ की अवहेलना या नागरिकों की आम जिन्दगी की सहूलियातों की नजरअन्दाजी नहीं है। ये सब दिक्कतें हैं, लेकिन मुख्य दिक्कत यह है कि शहर की रचना का चेतना प्रयास होने के बावजूद यह बीसवीं सदी के हिन्दुस्तान के शहरी जीवन के अन्तर्विरोधों से अनभिज्ञ हैं। मामला अनैच्छिक अनभिज्ञता का ही नहीं है, क्योंकि इसे अज्ञानता के पीछे समाज की कुछ मूलभूत वास्तविकताओं को नजर अन्दाज करने की मानसिकता ओर यह विश्वास छुपा हुआ है कि इन वास्तविकतओं से जूझे बिना एक ‘योजना’ के माध्यम से शहरी जिन्दगी के अन्तर्विरोधों से निपटा जा सकता है यह मानासिकता कारेबूज़िए की योजना नेहरूबाद से साझा करती है। शहर की स्थापना के पचास साल के बाद जिन्दगी की वास्तविकतायें शहर कि योजना से काफी आगे अलग बढ़ गयी हैं। लेकिन पहले शहर की योजना के विषय में कुछ तथ्य जिन्हें कोरबूज़िए व उसके सहयोगी योजना से स्वायत्त स्तंभ मानते थे।

कोरबूज़िए अपने शहर की तुलना एक जीव के शरीर से करता है। शहर के उत्तर-पश्चिम में स्थित

70

‘कैपिटॉल’ क्षेत्र को (जहाँ पर विधान सभा, उच्च न्यायालय ओर सेक्रेटेरियेट आदि हैं) मस्तिष्क, सेक्टर 17 के आसपास के व्यावसायिक city centr' को हृदय तथा काम करने की संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों को कोरबूज़िए शहर के अंग मानता है। कोरबूज़िए की उपमा से ही स्पष्ट है कि सार्वजनिक स्थानों की व्यवस्था तथा संगठन उसकी योजना का परिभाषिक सिद्धान्त था। (उसकी उपमा से रहने के निजी स्थानों का गायब होना एक अर्थपूर्ण लुप्ति है जिसके महत्व की चर्चा हम आगे करेंगे।) इसमें कोई शक नहीं की चंडीगढ़ का आकर्षण बहुत कुछ इसके सार्वजनिक स्थानों के कारण है। निर्मित स्थानों के अलावा नियोजित प्रकृति ला कोरबूज़िए के चंड़ीगढ में सार्वजनिकता का आवश्यक अंग है। शहर के उत्तर से दक्षिण में विलास घाटी (leisure valley), सुखना झील, रॉक गार्डन आदि शहर के प्रमुख खुले इलाके हैं। हर सेक्टर में भी उत्तर से दक्षिण में ग्रीन बेल्ट है जो उत्तर की पहाड़ियों की दिशा की ओर ध्यान ले जाती है, तथा जहां से दिन तथा मौसम के बदलने के साथ बदलती प्रकृति का नजारा देखा जा सकता है । चंडीगढ़ के साफसुथरे, खुल तथा प्रकृति की ओर उन्मुख सार्वजनिक स्थल मनोहर हैं। वे किसी भी व्यक्ति का मन लुभा सकते हैं। लेकिन, जैसे कोरबूज़िए की शहरी योजनाओं के कई आलोचक स्थापत्यकारों ने रेखाकिंत कियाहै, किसी भी शहर के सार्वजनिक स्थानों का औचित्य देखने वाले व्यक्ति को सिर्फ सुन्दर दिखाई ही नहीं होता बल्कि वे शहर की सामजिक जिन्दगी की निर्माण स्थली भी होते हैं। चंडीगढ़ के सार्वजनिक स्थल व्यक्तिगत उपभोग के लिये ही उत्तम है, उनकी रचना व आकार ऐसे हैं कि वे सामजिक मेलमिलाव व आपसी अन्तर्क्रिया का केन्द्र नहीं हो सकते। "विलास घाटी' में सुबह की सैर की जा सकती है, वहां से प्रकृति का नज़ारा देखा जासकता है, लेकिन वहां पर कभी कोई राजनीतिक प्रदर्शन हो सकता है इस बात की कल्पना करना भी मुश्किल है ! (कई स्थापत्यकारों ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि विश्व के कई आधुनिक शहरों में नियोजित प्रकृति के स्थल एक प्रकार की गैरजनतांत्रिक सार्वजनिकता के स्थल साबित हुए हैं।)

fकोरबूज़िए की चंडीगढ़ की योजना के मूल में एक ओर द्वंद्व स्थित है। अपने बाहरी रूप में शहर सार्वजनिकता व सामाजिकता में ओतप्रोत दिखता है। घरों, दुकानों के डिजाइनों से निजी विशेषतायें योजनाबद्ध ढंग से निष्कासित हैं। कोरबूज़िए के निर्देशों में यहां के चौराहों पर व्यक्तियों के बुत लगाने की मनाही है। शहर की सड़कों व सार्वजनिक स्थलों के नाम विशेषनाम नहीं है, वे अमूर्त प्रत्ययों पर आधरित हैं। लेकिन इस निर्वैयक्तिकता के बावजूद यह शहर समुदाओं के लिये नहीं बना हैं। यह बना व्यक्तिगत भोग के लिये ही है। उच्च जीवन स्तर पर व्यक्तिगत भोग संभावनायें इसे उच्च व मध्य वर्गो का प्रिय बनाती हैं। लेकिन देश के वर्तमान शहरों की सामजिक जिन्दगी इन वर्गो के पास पैसे व ताकत होने के बावजूद इनकी लालसाओं व आशाओं का प्रतिबिम्ब नहीं है। जिन्दगी के इन दूसरे पहलुओं का प्रभाव कोरबूज़िए की योजना के असफल होने का मुख्य कारण है। लेकिन इससे पहले कि इन दूसरे पहलुओं की बात करें, चंडीगढ़ की योजना के बारे में कुछ और तथ्य जो कोरबूज़िए के शहर के बारे में कथनों से उजागर नहीं होते लेकिन जो इसकी संरचना के आवश्यक अंग है।

कोरबूज़िए के समान ही एक कृति के अंगों में भेद होते हुए भी उसके एकीकृत होने के लिए मनुष्य के शरीर के बिम्ब का प्रयोग ऋग्वेद का पुरूषसूक्त भी करता हैं। लेकिन जहां ऋग्वेद का सूक्त कम से कम शूद्रों को भी आदि देवता के शरीर में जगह देता है (इस बात दोहराने की जरूरत नहीं कि यह स्थान अपमानित करने वाला है) वहां कोरबूज़िए के बिम्ब से शहर में रहने का स्थान गायब है । तर्क दिया जा सकता है। कि अगर घरों को मशीन मान लिया गया है तो उनका एक काव्यात्मक उपमा में प्रयोग